कालिदास और भवभूति।

मूल लेखक—

स्वर्गीय द्विजेन्द्रलाल राय।

कालिदास और भवभूति ।

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-सीरीजका ४६ वाँ ग्रन्थ।

कालिदास और भवभूति।

[अभिज्ञान-शाकुन्तल और उत्तररामचरितकी
विस्तृत समालोचना।]

मूल लेखक,

स्वर्गीय बाबू द्विजेन्द्रलाल राय।

अनुवादकर्त्ता—

पण्डित रूपनारायण पाण्डेय।

वैशाख, १९७७ वि०।

मई, १९२१ ई०।

प्रथमावृत्ति।]

[मूल्य १॥) रु०।

जिल्दसहितका दो रुपया।

प्रकाशक—

नाथूराम प्रेमी,

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,

हीराबाग, पो० गिरगाँव, बम्बई।

मुद्रक—

मंगेश नारायण कुळकर्णी,

कर्नाटक प्रेस,

नं० ४३४, ठाकुरद्वार, बम्बई।

निवेदन ।

हिन्दीके पाठकोंको स्वर्गीय द्विजेन्द्रलालरायका परिचय देनेकी आवश्यकता नहीं । क्यों कि इसके पहले वे उनके ऐसे अनेक नाटकोंके अनुवाद पढ़ चुके हैं जो हिन्दीमें बिलकुल ही नई चीज हैं और जिन्होंने नाटकसाहित्यमें एक युगान्तर उपस्थित कर दिया है । हम समझते हैं कि शिक्षित समाजमें द्विजेन्द्रबाबूके नाटक जिस चावसे पढ़े गये हैं उस चावसे इसके पहलेका शायद ही कोई हिन्दी नाटक पढ़ा गया होगा ।

द्विजेन्द्रबाबूका यह समालोचना-ग्रन्थ इस बातका निदर्शक है कि वे केवल कवि और नाटककार ही नहीं थे, किन्तु एक मार्मिक और तलस्पर्शी समालोचक भी थे । हम यह नहीं जानते कि अभिज्ञानशाकुन्तल और उत्तररामचरितकी अबतक कोई ऐसी गुणदोषविवेचिनी, मर्मस्पर्शिनी और तुलनात्मक समालोचना और भी किसी भारतीय विद्वान्के द्वारा लिखी गई है । यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि द्विजेन्द्रबाबू इन नाटकोंकी समालोचना लिखनेके बहुत बड़े अधिकारी थे । क्यों कि वे स्वयं कवि और नाटककार थे । कवि और नाटकलेखकोंके हृदयको और उनकी कलाकुशलताको जितना एक कवि और नाटककार समझ सकता है, उतना दूसरा कोई नहीं समझ सकता और इस दृष्टिसे यह ग्रन्थ बहुत महत्त्वका है ।

हिन्दीमें समालोचनात्मक साहित्यका बहुत अभाव है और यह निश्चय है कि ऐसे साहित्यके बिना लोगोंमें रचनाओंके गुण-दोष परखनेकी और उसके फलसे अच्छे साहित्यके पढ़नेकी रुचि नहीं होती । इस कमीको पूरा करनेमें यह ग्रन्थ बहुत कुछ सहायक होगा ।

यद्यपि यह समालोचना संस्कृतके नाटकोंकी है और इसके पढ़नेके विशेष अधिकारी संस्कृत साहित्यके अध्ययन करनेवाले हैं; फिर भी इससे केवल हिन्दी जाननेवाले भी बहुत लाभ उठा सकेंगे। क्यों कि इसमें कवित्व, नाटकत्व, चरित्र-चित्रण, शब्दालंकार, अर्थालंकार, छन्द, भाषा आदि जिन जिन विषयोंकी आलोचना की गई है, वे सभी साहित्योंके अंग-प्रत्यंग और जीवनरूप माने जाते हैं और उनका जानना प्रत्येक साहित्यसेवीके लिए आवश्यक है । इसके सिवाय

इसके प्रत्येक संस्कृत और अँगरेजी वाक्य और पद्यका अनुवाद देते हुए इस बातकी ओर ध्यान रक्खा गया है कि केवल हिन्दी जाननेवाले भी इससे पूरा पूरा लाभ उठा सकें।

संस्कृतके विद्यार्थियोंके लिए तो यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी होगा। हम ऐसे अनेक विद्वानोंसे परिचित हैं, जो संस्कृत भाषापर बहुत बड़ा अधिकार रखते हैं, फिर भी उनमें संस्कृतग्रन्थोंके गुण दोषोंका पृथक्करण करनेकी शक्तिका प्रायः अभाव है। उनकी दृष्टिमें संस्कृतमें जो भी कुछ लिखा गया है, वह सभी सत्य शिव और सुन्दर है। वास्तवमें यह विद्वत्ताकी एक बड़ी भारी त्रुटि है और इसकी पूर्ति ऐसे ही ग्रन्थोंके स्वाध्यायसे हो सकती है। हमें आशा है कि संस्कृतप्रेमियोंमें इस ग्रन्थका यथेष्ट आदर होगा।

हमारी इच्छा थी कि हम अभिज्ञान-शाकुन्तलके और उत्तररामचरितके सुसंस्कृत और शुद्ध हिन्दी अनुवाद निकालें और उन्हींके साथ भूमिकास्वरूप यह समालोचना। परन्तु अभीतक हमें कोई ऐसे सुयोग्य लेखक नहीं मिले, जो इन संस्कृतसाहित्यके शृङ्गारभूत नाटकोंके सर्वाङ्गसुन्दर अनुवाद कर सकें और इस कारण यह समालोचनाग्रन्थ ही स्वतंत्र रूपमें प्रकाशित कर दिया जाता है। नाटकोंके अनुवाद करानेका प्रयत्न हम अब भी कर रहे हैं।

द्विजेन्द्रबाबूका यह समालोचना-ग्रन्थ बंगला-साहित्यमें एक अभिमानकी चीज गिना जाता है। इसे उन्होंने अबसे लगभग दस वर्ष पहले लिखा था। इस रचनासे समालोचना-साहित्यमें उनका नाम अमर हो गया है।

श्रीमान् पं० चतुरसेनजी शास्त्री आयुर्वेदाचार्यने इस ग्रन्थकी भूमिका लिख करके हमें बहुत ही उपकृत किया है। इसके सिवाय सरस्वतीसम्पादक बाबू पदुमलालजी बख्शीने इस ग्रन्थके अँगरेजी उद्धरणोंका अनुवाद कर देनेकी कृपा की है। इसके लिए हम उक्त दोनों महाशयोंके बहुत ही कृतज्ञ हैं।

इस बातका विशेष ध्यान रक्खा गया है कि मूलग्रन्थकर्ताके अभिप्राय ज्योंके त्यों व्यक्त हो जायँ। इसके लिए अनुवादक महाशयने और मैंने भरसक प्रयत्न किया है। फिर भी अज्ञता या प्रमादके वश यदि कुछ त्रुटियाँ रह गई हों तो उनके लिए हम क्षमाप्रार्थी हैं।

बम्बई,
वैशाख वदी १३, १९७८ वि०

विनीत—
नाथूराम प्रेमी।

भूमिका।

बंगला भाषा न जाननेके कारण द्विजेन्द्र बाबूकी रचना मुझे अनुवादित हिन्दीमें पढ़नी पड़ी। वर्षाका जल धरतीमें गिर कर जैसा मैला हो जाता है अनुवादित भाषामें कविकी रचनाका ओज वैसा ही मलिन हो जाता है। विशेष कर छन्दोंका।

उसी मलिन ओज परसे भी जो मेरी धारणा द्विजेन्द्रके सम्बन्धमें उत्पन्न हुई है उसके आधार पर मैं अकुण्ठित भावसे यह कह सकता हूँ कि द्विजेन्द्र बाबू केवल रसिक कवि ही नहीं हैं वे तेजस्वी समाजसंशोधक और निर्भीक फटकार देनेवाले हैं। उनके हृदयमें हिन्दुत्वकी खरी प्रतीष्ठा और कुरीतियों पर तीव्र द्वेष है। साथ ही स्वाधीनचेतापनेकी भी उनमें विलक्षण शक्ति है।

उन्होंने अपने नाटकोंके प्रायः प्रत्येक पात्रके चरित्र पर अपनी व्यक्तिगत पसन्दगीकी दृष्टि डाली है, उनमें दोष देखे हैं और वे कैसे होते और किस तरह हो सकते, यह कल्पना की है। इसके पीछे कलम उठाकर उन्होंने अपनी दृष्टिमें रमी हुई और अपनी चाहती हुई चरित्रशैली और जीवनघटनाओंके मूल सिद्धान्तोंका वर्णन किया है। यद्यपि प्रख्यात ऐतिहासिक पात्रोंके सम्बन्धमें—खास कर उनके ऐसे चरित्रोंके सम्बन्धमें जो इतिहासप्रसिद्ध हैं—अपनी निजू मानसिक आकांक्षाओंको चित्रित करना—दोष कहा जा सकता है; परन्तु मेरा खयाल है कि किसी भी प्रकारके ऐतिहासिक आख्यान व्यंगकी जगह प्रयुक्त किये जासकते हैं। अर्थात् उनको चित्रित करनेका अभिप्राय यह होता है कि वर्तमान समाज और जन-विचार अपने वर्तमान घटनामय जीवनक्रममें एक तुलनात्मक आदर्श पावें। ऐसी दशामें यदि कोई कवि किसी ऐतिहासिक नाटकमें इतना स्वेच्छाचार करता है तो मैं तो उसे उचित ही समझता हूँ। द्विजेन्द्रने खास कर मुगलोंके राजत्वके दिनोंको बहुत कुछ हमारे वर्तमान बीसवीं शताब्दिके जीवनकी आकांक्षाओंको स्पर्श करनेवाला बना दिया है।

इसका अर्थ यह है कि द्विजेन्द्रके स्वतन्त्र विचार और आकांक्षाएँ देशकी रुचि और आकांक्षाओंके प्रतिकूल नहीं हैं और यह बात कविके लिये बहुत सौभाग्यकी है।

प्रस्तुत पुस्तक नाटक नहीं, नाटककी आलोचना नहीं, संस्कृतके दो धुरन्धर नाटककारोंकी आलोचना है। आलोच्य नाटककार प्राचीन साहित्यमन्दिरके प्रख्यात पुजारी हैं और द्विजेन्द्र जैसे सफल नाटककार ऐसी आलोचनाके सच्चे अधिकारियोंमें हैं।

आलोचना आलोच्य कवियोंकी केवल एक एक ही पुस्तकके आधार पर हुई है। चतुर द्विजेन्द्रने भरी देगचीमेंसे एक ही चावलको परखा है और अच्छी तरह परखा है।

भवभूतिका तो ' उत्तररामचरित ' सर्वस्व है ही, पर ' अभिज्ञान-शाकुन्तल,' को भी संसारने कालिदासकी सर्वश्रेष्ठ रचना माना है। द्विजेन्द्र बाबूने जो आलोचना की है वह उनकी मननशीलता और अध्यवसायका प्रमाण है। मैं इस भूमिकाके द्वारा आपका ध्यान द्विजेन्द्रकी केवल उन पकड़ोंकी तरफ खींचता हूँ जिन्होंने इस आलोचनाको महत्त्वपूर्ण बना दिया है।

सबसे प्रथम द्विजेन्द्रबाबू मूलकथाओंमें और नाटकोंमें जो फेरफार हैं उनके कारणोंपर विचार करते हैं। उन्होंने स्वयं भी अपने नाटकोंमें ऐसी ही स्वाधीनतासे फेरफार किया है। मालूम होता है कि वे या तो रचयिताओंके इस दोषसे बहुत चिन्तित हैं, अथवा लोगोंने उन्हें मूलकथाओंमें मनमानी उलट फेर करनेके लिये फटकारा होगा, अतः वे प्रथम उक्त दोनों कवियोंके इसी दोषकी व्याख्या करते हैं और प्रमाणित करते हैं।

इसके वे दो कारण बताते हैं। एक तो नायकको निर्दोष रूप देना और दूसरे अलंकारशास्त्रकी मर्यादा पालन करना। मेरी समझमें पिछला कारण ही प्रधान है। पहला कारण उसीके अन्तर्गत हो जाता है। इसके सिवा इतनी हिमायत लेनेपर भी वे (कविद्वय) दुष्यन्तको निर्दोष नहीं रख सके और अनेक रूपोंसे फटकारने पर भी रामकी अवज्ञा नहीं कर सके।

द्विजेन्द्र स्वयं भी यही कहते हैं। उन्होंने अत्यन्त बारीकीसे कविके प्रयासको वर्णन किया है; पर अन्तमें कह दिया है कि कालिदास इसमें सफल नहीं हुए। वे टिप्पणी देते हैं—

" दुष्यन्तके सदृश अतिथिका आना किसीके घरमें वाञ्छनीय नहीं हो सकता, उनका ऐसा वीर किसी देशमें वरणीय नहीं हो सकता, उनके ऐसे

वरको कोई भी स्त्री शिवसे नहीं माँगेगी और उनकासा राजा पानेके लिए किसी भी देशकी प्रजा ईश्वरके आगे 'धन्ना' नहीं देगी।"

बहुत ही सुन्दर फैसला है। बात सचमुच ही ऐसी है। दुष्यन्त—जैसी कि द्विजेन्द्रबाबूकी राय है—लम्पट पुरुष ही थे; पर कालिदासने अपनी कुशलतासे उन्हें लम्पट होनेसे किसी तरह बचाया है। पर वे कामुक जरूर प्रमाणित होते हैं।

इस ऊहापोहमें द्विजेन्द्रने विवाह-सम्बन्ध पर अपने मर्मस्पर्शी विचार प्रकट किये हैं और विवाह तथा प्रेमके नामपर जो विलासिता तथा कामुकतामें डूबते हैं उन्हें खूब तिरस्कृत किया है। खास कर उन्होंने इस मामलेमें कवियोंको बहुत ही ठीक ठीक फटकारा है। वे कहते हैं—

"कामोपासक कविगण विवाह-पदार्थको निश्चय ही अत्यन्त गद्यमय समझते हैं। मानो विवाह स्वर्गीय प्रेममें एक बाधा है। उनके मनमें विवाह एक अति अनावश्यक झंझट है। वे सोचते हैं काव्यमें विवाहके लिए जगह ही नहीं है।"

"प्राचीन और अर्वाचीन कवियोंके नायकोंको भौंरेकी तरह प्रेमरसपान करते ही मैंने देखा है और घृणा की है।" द्विजेन्द्रकी यह सूक्ति सत्य है और उनका इस भावके प्रति तिरस्कार भी उचित ही है।

आगे वे विवाहके सम्बन्धमें अपनी राय देते हैं—

"इसमें सन्देह नहीं कि प्रेममें विवाहका प्रयोजन नहीं है। कारण उसके भविष्य इतिहासका अन्त उस प्रेमहीमें है। किन्तु जहाँ यौन-मिलन (सहवास) है, वहाँ विवाह एक ऐसा कार्य है जो सर्वथा अपरिहार्य है—जिसके बिना काम चल ही नहीं सकता। विवाहके बिना यह मिलन एक पशुओंकी क्रिया मात्र ठहरता है। और प्रेम पदार्थ भी कर्तव्यज्ञानहीन काम-सेवाका रूप धारण कर लेता है। विवाह बता देता है कि यह मिलन केवल आज ही भरका नहीं है। यह क्षणिक सम्भोग नहीं है, इसका एक भारी भविष्य है, यह चिरजीवनका मिलन है। विवाह समझा देता है कि नारी केवल भोगका पदार्थ नहीं है, वह सम्मानके योग्य है।......इसके ऊपर केवल व्यक्तिकी ही शान्ति ही निर्भय नहीं है सम्पूर्ण समाजकी शान्ति भी इसीके ऊपर है।........." कैसे सुन्दर विचार हैं।

कविकी कृत्रिमताकी हिमायत करते हुए वे कहते हैं—

" जो प्रकृत है वही सुन्दर है, यह नहीं माना जा सकता। यदि वही सुन्दर मान लिया जाय तो फिर जगतके सभी पदार्थ सुन्दर हैं और यदि यही बात सच्ची है तो जगतके कोशसे 'सुन्दर' शब्द निकाल डालना चाहिए।"

इसी प्रसंगमें द्विजेन्द्रबाबूने पाश्चात्य कालिदास शेक्सपियरका जिक्र बड़ी योग्यतासे किया है और बताया है कि इनकी कविताके पात्र उत्कृष्ट न होनेपर भी बाहरी बनावसे उनकी शान बढ़ाई गई है। इस विभिन्नता पर द्विजेन्द्रकी गवेषणापूर्ण राय विचारने योग्य है।

" इसका कारण मेरी समझमें यह है कि वे धन और क्षमताका गर्व रखनेवाले अँगरेज थे। पार्थिव क्षमता ही उनके निकट अत्यन्त लोभनीय पदार्थ थी। वे महत् चरित्रकी अपेक्षा विराट् चरित्रमें अधिक मुग्ध होते थे। विराट् क्षमता, विराट् बुद्धि, विराट् विद्वेष, विराट् ईर्ष्या, विराट् प्रतिहिंसा और विराट् लोभ; उनके निकट अधिक लोभनीय वस्तुएँ थीं।......यह बात नहीं है कि वे स्वार्थत्यागके महत्त्वको बिल्कुल समझते या जानते ही नहीं थे; किन्तु उन्होंने क्षमता और बाहरका भड़कीलापन दिखा कर चरित्र-माहात्म्यको उसके नीचे स्थान दिया है।"

भवभूतिने अन्तमें जो राम सीताको मिला दिया है वह इतिहासके प्रति उनकी भारी उच्छृंखलता है। 'इसमें अलंकारकी मर्य्यादारक्षा तो है ही, साथ ही यह भी बात है कि पुण्यात्मा नायकका अन्त यदि दुःखद हुआ तो लोगोंके अधार्मिक होनेकी संभावना है,'—इस युक्तिका खण्डन द्विजेन्द्रने नीचे लिखे सतेज शब्दोंमें किया है—

" वास्तवमें जीवनमें प्रायः अधर्महीकी जय देखी जाती है। अगर ऐसा न होता तो क्षुद्रता, स्वार्थ और प्रतारणासे पृथ्वी छा न जाती। अन्तमें अगर धर्मजय अवश्य होती तो उन सब उदाहरणोंको देखकर अधिकांश मनुष्य धार्मिक हो जाते। और जो ऐसा होता, तो धार्मिक होनेके कारण कोई प्रशंसाका पात्र न होता.........।"

आगे चलकर कहते हैं—

" स्वर्गलाभ होगा यह समझकर धार्मिक होना और भविष्यमें सम्पत्तिशाली होंगे यह सोचकर सत् होना, और प्रत्युपकार पानेकी आशासे उपकार करना, धर्म नहीं है। वह स्वार्थसेवा है।"

वास्तवमें ये शब्द द्विजेन्द्रके उत्कट और शुद्ध धर्मगौरवको प्रकट करते हैं।

सीतात्यागके बारेमें राम पर द्विजेन्द्रका अक्षम्य क्रोध है। यह इस पुस्तकमें कई जगह प्रकट हुआ है। उन्होंने तेज स्वरमें रामके प्रति अवज्ञा प्रकट की है और रामके दोष ढकनेका जो प्रयत्न कविने किया है उसे असन्तोष दृष्टिसे देखा है। साथ ही सीताकी हिमायतमें उन्होंने अत्यन्त करुण शब्दोंमें अपील भी की है। किन्तु अन्तमें—जहां वे दोनों पुस्तकोंके नायकनायकाओंका मेल कराते हैं वहां—निर्भीकतापूर्वक साफ कहते हैं कि—

" अभिज्ञान-शकुन्तलके नायक नायिका यथार्थमें कामुक और कामुकी हैं, और उत्तरचरितके नायक नायिका देव देवी हैं। "

द्विजेन्द्रका यह निर्णय उनका अपूर्व चरित्र-परीक्षण-कौशल प्रकट करता है।

दुष्यन्तके चरित्रको द्विजेन्द्र बिलकुल साधारण राजाओं जैसा मानते हैं, पर कालिदासने उसे जैसा खींचतान कर सुधारा है उसकी प्रशंसा किये बिना भी उनसे रहा नहीं गया है। वे कहते हैं—

" यह नाटक दुष्यन्त और शकुन्तलाके प्रणयकी कहानी है, शिव पार्वतीका ब्याह नहीं है। इसी कारण ऋषियोंके प्रति विश्वासघातकता और शकुन्तलाके साथ लम्पटताका व्यवहार सभी कुछ कालिदासको रखना पड़ा। और यह सब रख कर भी चरितको महत् बनाया। चन्द्रको सुन्दर तो बनाया, पर उसका कलंक नहीं पोंछा। "

शकुन्तलाके चरित्रका पूरा पूरा अनुशीलन करनेके पश्चात् द्विजेन्द्रको यही कहना पड़ा है कि वह एक साधारण स्त्री है। उसमें कोई विशेषता थी तो इतनी ही कि तपोवनके साथ उसकी एकान्त घनिष्टता थी। वे कहते हैं—" कालि-दासकी शकुन्तला स्नेह, सौहार्द, तेज, करुणा आदि भावोंकी एक मनोहर सृष्टि है"—तिस पर भी उनका कहना है कि "ये सब भाव प्रत्येक गृहस्थकी कन्यामें होते ही हैं। इनमें कोई लोकोत्तर बात नहीं है। "

अन्तमें वे स्वयं यह प्रश्न उठाते हैं कि जब नायक नायिका दोनोंमें कोई विशेषता नहीं, तब कविने उन्हें चुना क्यों? और यह रचना क्यों इतनी उत्कृष्ट मानी गई? इसका उत्तर द्विजेन्द्रने जो दिया है वह यथार्थ है। वे कहते हैं—"दोनोंके चरित्रका माहात्म्य उनके उत्थान और पतनमें है। " उनके

मतसे शकुन्तलाका पतन प्रथम तीन अंकोंमें है और तीसरे अंकमें वह चरम सीमाको पहुँच गया है। तापसी कन्याकी वह कुत्सित लालसा और निन्द्य निर्लज्जता सात्त्विक द्विजेन्द्र नहीं सह सके हैं। उन्होंने जरा गर्म होकर उसकी धर्षणा की है और महात्मा कण्वने जो उसके आचारको क्षमा और शान्तिकी दृष्टिसे देखा है उस पर वे चकित हुए हैं। कण्वकी क्षमा उन्हें लोकोत्तरसी प्रतीत हुई है।

पाँचवें अंकमें उनके मतसे दुष्यन्तका पूर्ण पतन हुआ है। वे कहते हैं—"छिपकर सुनना, अपना मिथ्या परिचय देना, देखकर ही अपने उपभोगके योग्य नारी समझ लेना, माताकी आज्ञा पर ध्यान न देना, विदूषकको छलसे राजधानी भेजकर झूठ बोलना, विवाहके बाद कण्वमुनिके आनेके प्रथम ही भाग जाना, आदि जहाँतक गर्हित कर्म थे दुष्यन्तने किये। उस पापाचारमें एक केवल पुण्यकी रेखा गान्धर्वविवाह कर लेना है। इसीसे वे ऊपर उठे हैं। परन्तु पंचम अंकमें वे शकुन्तलाको बिल्कुल भूल गये हैं। यह उनके पतनकी चरम सीमा है। पर यहींसे शकुन्तलाका उत्थान होता है। इसने पंचम अंकका माहात्म्य और बढ़ा दिया है।" द्विजेन्द्रने कहा है—

"मैं शकुन्तला नाटकके इस पञ्चम अंकको जगत्के नाट्यसाहित्यमें अद्वितीय, अद्भुत, अपूर्व और अतुलनीय समझता हूँ। ग्रीक नाटकोंमें मैंने ऐसा नहीं पढ़ा, फ्रेंच नाटकोंमें नहीं पढ़ा, जर्मन नाटकोंमें ऐसा दृश्य नहीं देखा; अँगरेजीके नाटकोंमें भी नहीं देखा।" वे कहते हैं—

"इस अंकमें हम एक अपूर्व वस्तु देखते हैं। अलक्ष्यमें एक युद्ध हो रहा है। एक तरफ क्षत्रियका तेज है और एक तरफ ब्रह्मतेज है। दोनों ऋषिके शिष्योंने और ऋषिकन्या गौतमीने राजाको बड़ी कड़ी कड़ी झिड़कियाँ दीं, भर्त्सनामें कोई बात उठा नहीं रक्खी। दुष्यन्त क्रोध नहीं करते, किन्तु प्रतिज्ञासे पग भर भी स्खलित नहीं होते। साथ ही ब्राह्मणका अभिशाप भी सिर आँखों पर है—त्याग नहीं सकते।—अपूर्व है।"

इसी अंकमें कोमलप्रकृति शकुन्तलाके प्रेमको एक भारी धक्का लगता है। द्विजेन्द्र कहते हैं कि "यदि विवाह, उसे घेरे न होता तो उसी धक्केमें वह चूर हो जाता। यही धक्का खाकर शकुन्तलाका उत्थान होता है। इसने इस अंकके अन्तिमभागको और भी ज्वलन्त बना दिया है। किसी तरह विश्वास न करके राजा जब समस्त स्त्रीजातिपर फरेबका अपवाद लगाते हैं तब

शकुन्तलाका गर्व जाग उठता है। वह राजाको फटकारती है। पीछे राजा उसे अस्वीकार करता है और ऋषिशिष्य भी छोड़ कर चल देते हैं—तो वह रोती है। तब राजपुरोहित राजाको सलाह देते हैं कि आपका पुत्र चक्रवर्ती होगा, इस लिए प्रसव तक परीक्षार्थ इसे रख लीजिए। यदि पुत्रके चक्रवर्ती लक्षण देख कर विशुद्ध समझें तो अन्तःपुरमें स्थान दीजिए—वरना पिताके आश्रममें भेज दीजिए। परन्तु शकुन्तला इस परीक्षणके अपमानको स्वीकार नहीं करती। यहाँ नारी तेज उदय होता है।" इस स्थल पर ऐसा मालूम होता है कि द्विजेन्द्रबाबूकी कलममें तेज आ गया है। उन्होंने तीसरे अंकमें निर्लज्जताके कारण जितना ही शकुन्तलाको फटकारा है—इस उत्थान पर उतनी ही उसे शाबासी दी है।

इस अंककी अन्तिम घटना गजबकी है। उसमें समस्त नाटककी जान है। सब लोग सभाभवनसे निकलते हैं पर पुरोहित पुनः प्रवेश करके कहता है—"महाराज! स्त्रीके आकारकी एक ज्योतिने आकाशसे उतरकर शकुन्तलाको गोदमें लिया और वह अन्तर्धान हो गई।"

यहाँ द्विजेन्द्रकी रायमें कालिदासने कलम तोड़ दिया है। यहीं पर शकुन्तलाके चरित्रका चरम विकास है। यहाँ कालिदासने अन्यायपीडित सतीके तेजका अद्भुत रक्षण केवल अपनी कल्पनासे, बिना आधार, किया है।

इसी कारण पंचम अंकके विषयमें द्विजेन्द्रबाबूने इतनी बढ़ कर बात कही है, जो बहुत कुछ अंश तक यथार्थ है।

द्विजेन्द्र भवभूतिकी सीताका शकुन्तलासे मुकाबिला नहीं करना चाहते। वे भवभूतिकी सीताको लतीफ कवित्वकी प्रतिमा समझते हैं। कहते हैं—

"असलमें भवभूतिके नाटकमें सीताका चरित्र अच्छी तरह प्रस्फुटित ही नहीं हुआ। जो कुछ हुआ है वह उनका अपार्थिव सतीत्व है।" इस सतीत्व-चित्रण पर मुग्ध होकर द्विजेन्द्र लिखते हैं—

"विशुद्ध प्रेमके सम्बन्धमें भवभूतिकी कल्पनाके ऊपर किसी भी देशका कोई कवि जा सका है या नहीं, इसमें सन्देह है।"

भवभूतिके कवित्वकी इतनी प्रशंसा करके भी मानो द्विजेन्द्रको उनकी इतनी लताफत पसन्द नहीं आई है। वे कहते हैं कि "भवभूतिकी सीता बहुत ही

अस्फुटित है। हम उसे आँखोंसे नहीं देख पाते किन्तु हृदयमें अनुभव कर पाते हैं। भवभूतिकी सीता नायिका नहीं—कल्पना है। ”

इन शब्दोंसे मालूम होता है कि द्विजेन्द्रका इस लतीफ वर्णनमें दम घुटता है। वे इतनी दमघोट हवा—इतना पर्दा—इतना प्रेम—इतना त्याग—इतना धैर्य नहीं सह सकते। बल्कि जब मुनि अष्टावक्रसे रामने कहा कि मैं प्रजारंजनके लिए सीताको भी त्याग सकता हूँ, तब सीता इससे व्यथित नहीं हुई बल्कि उन्होंने कहा—“ आर्यपुत्र इसी कारण रघुकुलशिरोमणि हैं। ” सीताके इस उत्तरको सुन कर द्विजेन्द्रसे न रहा गया। उन्होंने कहा है कि “ हम देखते हैं सीता बिल्कुल आत्मचिन्ताशून्य है। ”

स्त्रियोंके प्रति द्विजेन्द्रके जो भाव हैं वे उनके नाटकोंमें तथा इस पुस्तकमें भी जगह जगह व्यक्त हुए हैं। वे स्त्रियोंके एक दर्जे तक वकील हैं। वे उनके पतन पर दुखी और उत्कर्ष पर प्रसन्न होते हैं। वे उन पर अत्याचार करनेवालों पर क्रोध करते हैं। यही कारण है कि देवी सीताकी अप्रतिम पतिभक्ति और त्यागको उन्होंने ‘ आत्मचिन्ताशून्य ’ कह कर पुकारा है। एक स्थान पर वे यहाँ तक कह गये हैं—

“भवभूतिके राम मानों कोई स्त्रैण बंगाली हैं और उनकी सीता वैसी ही कोई साध्वी बंगवधू है।”

मैं समझता हूँ द्विजेन्द्रबाबू कुछ झुँझलाकर यह बात कह गये हैं। निरपराध सीताके त्यागके कारण वे राम पर अपने स्वभावानुसार कुपित हैं और सीताने जो निर्जीवकी तरह उनके अन्यायको मान्य किया इस पर वे सीता पर भी कुपितसे हुए हैं। पर यह कोप है मजेका। वे क्रोधमें आकर यहाँ तक कह गये हैं कि “ सीता एक पाषाणप्रतिमा है। ” उन्होंने इस स्थान पर क्षुब्ध होकर आख्यानके मूलग्रन्थ वाल्मीकिको उठा कर देखा है। वहाँ उन्होंने देखा, वह सीता पूरी नहीं तो कुछ कुछ तो उनके मनकी है। कुछ तो वह स्पष्ट है। वह अपनी इच्छासे रामके साथ वनवासिनी हुई। उसने लंकापति रावणके प्रस्तावको लात मारी और अन्तको स्वयं रामकी अवहेलाको तुच्छ किया। उसका सहन करनेका ढंग भी निराला है। निर्वासनके समय भी उसने लक्ष्मणसे जो कहा, वह अभिमानपूर्ण साध्वीकी उक्ति है और लंकाविजयके बाद जब रामने उस पर सन्देह किया, तब उसने जिस तेजका परिचय दिया उसे देख

कर तो मानों द्विजेन्द्र फड़क उठे हैं। वे स्वयं कहते हैं-" मुझे ऐसी आशा न थी कि कई हजार वर्ष पहले ऐसी बातें किसी नारीके मुखसे सुननेको मिलेंगी। सोचनेसे शरीर पुलकित हो उठता है, रुधिर गर्म हो जाता है और गर्वसे छाती फूल जाती है कि उस आर्षयुगमें हमारे ही देशमें एक कविने सतीत्वके इस तेज, आत्माभिमान और महत्वकी ऐसी कल्पना की थी।"

द्विजेन्द्रबाबू कुछ नवीन सुधारके पक्षपाती और उत्कट देशभक्त होनेके कारण सीताकी उतनी सहनसीलता नहीं सह सके हैं। परन्तु यदि वे कट्टर हिन्दू होते तो भवभूतिके सीता-राम उन्हें अवश्य पसन्द आते। यह बात समझ रखनेकी है कि हमारे स्वाधीन विचार चाहे जो कुछ हों, पर सीता-राम कट्टर हिन्दुओंकी सम्पत्ति हैं।

भवभूतिके राम और सीताके लिए जो द्विजेन्द्रबाबूकी सम्मति है, मैं उसमें सहमत नहीं हूँ। वाल्मीक ऋषिने रामको मर्यादा-पुरुषोत्तम मानकर गुणगान किया है। उन्होंने उनके और सीताके चरित्रमें उत्कृष्ट मानव-दम्पत्तिके आदर्श जीवनका ज्वलन्त चित्र खींचा है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भवभूतिके कालमें राम लोकोत्तर परम पुरुष और ईश्वरावतार माने जाने लगे थे और भवभूति भी अवश्य उनको वैसा ही माननेवाले थे। यही कारण है कि उन्होंने अपने वर्णनके लिए रामकी कथाका वही भाग चुना है जो सर्वथा अननुकरणीय और लोकोत्तर था। जो इतना ऊँचा है कि दीख सकता है, हृदयको प्रकाशित और आकर्षित कर सकता है, पर छुआ नहीं जा सकता। संसारका कोई पुरुष यदि रामका अनुकरण करे तो यहाँ तक ही कर सकता है। सम्भव है कि वह बचपनमें क्षात्रधर्म दिखा कर राक्षसोंको त्रास दे सके, भारी धनुष तोड़ सके, पिताकी आज्ञासे राज्यको लात मार सके और दुर्धर्ष रावण जैसे शत्रुके दाँत खट्टे कर सके। यहाँ तक रामके चरित्रमें वीरता, क्षमता, धैर्य, शान्ति और ओजका चमत्कार है—वे यहाँ तक आदर्श राजकुमार, आदर्श पुत्र, आदर्श पति हैं। कोई भी महान् पुरुष इन चरित्रोंका अनुकरण कर सकता है। ये वास्तवमें मानवचरित्र हैं। परन्तु-सीतात्यागका चरित्र मानवचरित्रसे परे है। भवभूतिने राम और सीताको मानव-चरित्रसे परे ही समझकर उस पर कवित्व किया है। कोई भी महान्-

पुरुष रामके इस त्यागका अनुकरण नहीं कर सकता—नहीं कर सकता—नहीं कर सकता।

द्विजेन्द्रबाबूने वाल्मीकिकी सीता पसन्द की है। उसका गर्व और तेज देखकर उनकी छाती फूल उठी है। यह स्वाभाविक ही है। वे सीताको एक आदर्श नारी रत्न, आर्य जातिकी एक श्रेष्ठ सती समझते हैं। पर भवभूतिने उन्हें अवतरित भगवान् और भगवती माना है। यदि भगवान्ने अपने चरित्रको खींचकर मानव हृदयसे कुछ ऊँचा किया तो इसमें आश्चर्य क्या है?

यहां द्विजेन्द्रबाबू राम पर अन्यायका दोष लगाते हैं और सीता पर स्वार्थ-चिन्ताशून्यताका। परन्तु न्याय एक साधारण राजाका उत्कर्ष है। भवभूतिके राम साधारण राजा नहीं हैं—वे ईश्वरावतार हैं। वे मानव-समाजकी कुरीतियों पर बलि देने आये हैं। अत्याचार पाप और बुराइयोंको अपने ऊपर व्यर्थ सहकर उन्होंने अपने चरित्रको शुरूसे अन्त तक ऐसा निबाहा है कि अत्याचारियोंको अनुताप हुआ। यहाँ भी ऐसा ही किया। मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि यदि वे सीताका त्याग न करते, त्याग करने पर दूसरा व्याह कर लेते, या अजकी तरह मर जाते, तो निस्सन्देह वे ईश्वरकी तरह नहीं माने जाते।

सीताकी भी यही बात है। उन्हें क्या स्वार्थचिन्ता होगी? भवभूतिकी सीता अमर मायाका अवतार हैं। वे मर्त्यलोकमें समस्त मानव समाजके सन्मुख उत्कृष्ट चरित्रपथप्रदर्शनमें ईश्वरावतार रामकी समता कर रही हैं। स्वार्थचिन्ता यहाँ कैसी? और तेज या गर्व भी कैसा? असल नकलमें अन्तर भी होता है। भवभूतिकी सीता और रामको जान कर लम्पट लोलुप स्त्री-पुरुष जितना उत्तम संकोच और अनुताप पा सकते हैं, उतना वाल्मीकिकी सीतासे नहीं, कदापि नहीं। वाल्मीकिकी सीतामें गर्वकी जरासी रेख भी देख कर कोई भी गर्विता स्त्री अपने मनमें यही धारणा करेगी कि देखो यह मेरा अनुमोदन है। वह सीताके उस गर्वको चाव और आशाकी दृष्टिसे देखेगी और उसे गर्वपर कभी अनुताप न होगा। वह कभी अपने गर्वकी मात्रा, परिस्थिति और औचित्यपर विचार न करेगी। परन्तु भवभूतिकी सीता सीता है! जिसे देख कर क्रूर पापी भी करुणासे रो देगा और असती अपने पर अनुतापसे रो देगी।

द्विजेन्द्रबाबू भवभूतिकी सीतासे कुछ रुष्ट होनेपर भी मुग्ध हैं। वे कहते हैं—

"वह प्रेम ज्योत्स्नाकी तरह गतिहीन है, सूरजमुखीकी तरह परमुखापक्षी है, विरहकी तरह करुण है और हँसीकी तरह सुन्दर है। भवभूतिने नाटकका विषय चुना था—चरम। किन्तु वह विषय इतना उच्च है कि कविकी कल्पना वहाँ तक नहीं पहुँचती। उन्होंने एक अपूर्व स्वर्गीय मूर्ति अवश्य गढ़ी लेकिन वे उसमें प्राणप्रतिष्ठा नहीं कर सके—उसमें जान नहीं डाल सके। अगर वे ऐसा कर सकते, इस देवीको जीवनदान कर सकते, तो जगत्में यह एक ऐसा कार्य होता जैसा आज तक कहीं भी कभी नहीं हुआ था। उस मूर्तिको देख कर सारा ब्रह्माण्ड उन्मत्तसा हो कर 'मा—मा' कह कर उसके चरणों पर लोटता और उसकी चरण-रजका एक कण पानेके लिए मर मिटता...।"

मानो द्विजेन्द्र पागल हो गये हैं! भवभूतिकी सीताको मानो वे देख रहे हैं पर पकड़ नहीं सकते। इस उत्कृष्ट कविकी कविताकी हद हो गई। निस्सन्देह भवभूतिका विषय—'चरम' ही है।

भवभूतिके राम और सीता सहनशीलताके अवतार हैं और आदर्शके चरम पात्र हैं। इसके सिवा सीता सती वधुओंका आदर्श हैं। यद्यपि वे माता हुईं, पर माकी तरह संसारमें कभी न पूजी गईं। द्विजेन्द्र अतृप्ति, आदर तथा सहानुभूतिके कारण उन्हें माके आदर्शमें देखनेको व्याकुल हो उठे हैं, पर माका आदर्श गौरीमें है। कुमारसंभवकी गौरी आज जगत्में माकी तरह ही पूजी जाती हैं। अपना अपना चरित्र, अपना अपना आदर्श, अपना अपना मार्ग अलग है। भवभूतिकी सीता वह मूर्ति है जिसे देखते ही सती स्त्रियाँ लोट पोट हो जायँगी, जान वार देंगी और असती स्त्रियाँ तत्क्षण लज्जिता और अनुतप्ता होंगी और जन्म जन्म सीताका प्रतिबिम्ब बननेकी कामना करेंगी।

नाटकत्व और कवित्वके विषयमें द्विजेन्द्रकी विवेचना पढ़नेयोग्य है। वे नाटकत्वकी दृष्टिसे कालिदासको और कविकी दृष्टिसे भवभूतिको सम्मान देते हैं। उनका कथन है कि घटनाओं और मनोविकारोंका घात-प्रतिघात ही नाटकत्व है। यह सच है कि उत्तररामचरितमें घात-प्रतिघात नहीं है, फिर भी मैं उसमें नाटकत्व मानता हूँ। द्विजेन्द्र कहते हैं कि "रामने कहीं भी द्विविधा नहीं दिखाई। मानसिक दुर्बलताका कहीं चिह्न भी नहीं है।" द्विजेन्द्रकी सम्मतिमें दुर्बलता और दृढ़तामें युद्ध [illegible] बिना नाटकत्वका ओज विकसित नहीं होता।

यद्यपि यह बात साधारणतया ठीक ही है, परन्तु द्विजेन्द्र बार बार कलाकी तराशको ही देखते हैं। मैं समझता हूँ, जबतक वे कलाकी काट छाँट देखेंगे, भवभूतिसे उनकी तृप्ति न होगी।

उत्तररामचरितमें घात-प्रतिघात नहीं, पर एक वस्तु है जो कहीं नहीं है। उसके दर्शानेमें भवभूतिने कमाल किया है। समझनेकी बात दिखा कर बताई है। श्रव्य काव्यको दृश्य काव्यका रूप दे दिया है। बहुत बड़ी बात है, जो भवभूतिने की है। द्विजेन्द्रने विवेचना द्वारा दृश्यकाव्यके उत्कर्ष बताये हैं और वे उन्हें शाकुन्तलमें प्रस्फुटित दीखे हैं, उत्तररामचरितमें अस्फुट। पर वे यह नहीं देखते कि उत्तररामचरितका कथाभाग दृश्य काव्यके योग्य नहीं था। भवभूतिने अपनी धुआँधार भावुकताके बलसे उसे दृश्य काव्यका रूप दिया है। उसने पजामेमेंसे कोटका ब्योंत निकाला है। उसने सुपारीका गुलदस्ता बनाया है। जिसमें जो होना अशक्य था उसमें वही उसने किया है।

राम और सीता दोनोंके चरित्र, धैर्य, गाम्भीर्य, मर्यादा, सन्तोष और सहन शक्तिके सजीव चित्र हैं। मानो छायामूर्तिको भवभूतिने बायस्कोपकी तरह चलती फिरती दिखाया है जिसे देख पर बहुत दूर बैठे हुए द्विजेन्द्र कहते हैं—"तस्वीरें चलती फिरती तो दीखती हैं, पर इनमें जान नहीं मालूम देती।"

भवभूतिने सहनकी छायाको चलती फिरती दिखाया है। इसके सिवा एक बात यह भी ध्यान देनेकी है कि भवभूति और कालिदास वास्तवमें कवि थे, केवल नाटककार नहीं।

अन्तमें द्विजेन्द्रबाबूने कालिदास और भवभूति दोनोंहीकी संगठन-प्रणालीमें एक एक दोष पकड़ा है और खूब पकड़ा है। भवभूति तो बार बार एकके बाद एक श्लोक कहकर एक ही बातको दुहराये जाते हैं और यह नाटकके कौतूहलको शिथिल करनेवाला दोष है।

कालिदासकी इससे भी बड़ी मार्केकी कमजोरी उन्होंने पकड़ी है और वह है दुर्वासाशाप और मछलीकी कल्पना। बेचारे दुर्वासा मानो कवियोंके लिए ठेके पर क्रोध करते फिरते हैं। जहाँ जिसको जरूरत पड़ी, वहीं वह डाढ़ी पकड़ी और खींच लाया। खैर यह भी बात सध गई थी, पर अँगूठीका मछलीका निगल जाना, उसका जालमें फँसना और अँगूठी राजाको पहुँचना, यह सर्वथा मद्दा

है। यह कालिदासने टूटी-खाई-पर केवल पुल बनाया है। कथानक बिलकुल मरम्मती हो गया है।

द्विजेन्द्रबाबूकी इस समालोचनामें एक बात बहुत खटकती है कि उन्होंने मुकाबिलेमें सभी विदेशी नाटककारोंका उल्लेख किया है, पर देशी नाटककारोंमेंसे किसीका भी नाम नहीं लिया। शायद उन्होंने संस्कृत नाटकोंको रुचिसे नहीं पढ़ा; नहीं तो कमसे कम पुस्तक भरमें एक बार तो मुद्राराक्षसका नाम आता ही।

अन्तमें मैं एक बात कहकर अपना वक्तव्य समाप्त करूँगा। वह यह कि द्विजेन्द्रने जो एक चावलसे तमाम भात परखा है, यह कुछ संगत नहीं हुआ। प्रस्तुत पुस्तक 'भवभूति और कालिदास,' नाम नहीं धरा सकती, इसका नाम 'भवभूति और कालिदासकी टक्करकी रचनाएँ,' यह उचित होता। कारण दोनों कवियोंके खास कर कालिदासके और भी काव्य हैं। यदि यही नाम रखना था तो द्विजेन्द्र बाबूकी पुस्तककी विषयसूची कवित्व-परीक्षण-प्रधान होनी चाहिये थी। दोनों कवियोंने अपनी अपनी किस किस पुस्तकमें किस किस स्थलपर उत्कट प्रतिभा दिखाई है, कहाँ उनकी समानता है, कहाँ कौन किससे गिरा है, किससे जीता है, कहाँ कौन गहरा पहुँचा है आदि। यह द्वन्द्वयुद्ध बहुत ही रोचक, आकर्षक और उत्तम बनता। पर यह कवियोंका द्वन्द्व नहीं, उनकी दो पुस्तकोंकी प्रदर्शनी है। सुस्त निर्जीव पुस्तकें पड़ी हैं, पढ़ लो और जाँच लो। द्विजेन्द्र बाबू उक्त दोनों पुस्तकोंको पढ़ते, थकते और आलोचना करते दीखते हैं; परन्तु ऐसा न होकर यदि दोनों कवि अपने अपने उत्कर्षके लिए युद्ध करते दीखते तो पुस्तक अपने नामके उपयुक्त हो सकती थी। केवल शकुन्तलाके ऊपरसे कालिदासका और उत्तररामचरितके आधार पर भवभूतिका पूरा पूरा कवित्व नहीं परखा जा सकता।

द्विजेन्द्रबाबू उत्तम नाटककार थे। नाटकके गुण-दोषोंको वे कितना बारीकीसे समझते थे, यह बात इस पुस्तकके पढ़नेवाले रसिकोंसे छिपी न रहेगी। इस दृष्टिसे निस्सन्देह यह पुस्तक बहुत ही आदरयोग्य है और इसने प्राचीन प्रतिभाको एक चमत्कृत म्यूजियमका स्वरूप दे दिया है, यह कहनेमें अत्युक्ति न होगी।

बम्बई,
२८।४।२१

—श्री चतुरसेन वैद्य।

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर सीरीज।

हिन्दीमें यह सबसे पहली, सबसे अच्छी और सुन्दर ग्रन्थमाला है। इसमें इतिहास, नाटक, उपन्यास, तत्त्वज्ञान, राजनीति आदि अनेक विषयोंके ४६ ग्रन्थ निकल चुके हैं। सभी ग्रन्थोंकी बड़े बड़े विद्वानोंने प्रशंसा की है। स्थायी ग्राहकोंको सब ग्रन्थ पौनी कीमतमें दिये जाते हैं। इस सीरीजके सिवाय और भी अनेक ग्रन्थ हमने प्रकाशित किये हैं। सूचीपत्र मँगाकर देखिए। नीचे लिखे ग्रन्थ हाल ही छपकर तैयार हुए हैं:—

साहित्य-मीमांसा। हिन्दीमें यह भी अपने ढंगका अपूर्व समालोचनात्मक ग्रन्थ है। इसमें पूर्वीय और पश्चिमी साहित्यकी, अर्थात् वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति और होमर, शेक्सपीयर, वर्डस्वर्थ, शीलर आदिके काव्य-नाटकोंकी तुलनात्मक आलोचना की गई है और उसमें पूर्वीय साहित्यकी महत्ता, धार्मिकता और अनुकरणीयता सिद्ध की गई है। प्रत्येक कवि लेखक और साहित्यप्रेमीको इसे पढ़ना चाहिए। ट्रेजिडी या शोकपर्यवसायी काव्य-नाटक लिखना क्यों निषिद्ध किया गया है, इस विषय पर बहुत अच्छा प्रकाश डाला गया है। बंगलाके एक प्रसिद्ध ग्रन्थके आधारसे इसे पं० रामदहिन मिश्र काव्यतीर्थने लिखा है। मू० १॥)

अरबी-काव्यदर्शन। लेखक—काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके प्रोफेसर पं० महेशप्रसाद साधु, मौलवी आलिम, फाजिल। अरबी कविताका इतिहास, उसकी प्रकृति, और अरबीके प्रसिद्ध प्रसिद्ध कवियोंकी विविध प्रकारकी रचनाके—नीति, वीरता, शृंगार आदिके—नमूने इस ग्रन्थमें संग्रह किये गये हैं। हिन्दीमें बिलकुल नई चीज है और इस विषयके अच्छे ज्ञाताके द्वारा लिखी गई है। मूल्य १।)।

मैनेजर—हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय,

हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई।

स्व० द्विजेन्द्रलालरायके नाटक ।

(हिन्दी अनुवाद ।)

					मूल्य
१	दुर्गादास	(ऐतिहासिक)	...	...	१=)
२	मेवाड़पतन	,,	...	...	॥।=)
३	शाहजहाँ	,,	...	...	॥।=)
४	नूरजहाँ	,,	...	...	१=)
५	सिंहल-विजय	,,	...	...	१=)
६	ताराबाई (पद्य)	,,	...	...	१)
७	चन्द्रगुप्त	,,	...	...	१)
८	राणा प्रताप	,,	...	...	१॥)
९	भीष्म	(पौराणिक)	...	...	१॥)
१०	पाषाणी (अहल्या)	,,	...	...	॥।)
११	सीता	,,	...	...	॥-)
१२	उसपार	(सामाजिक)	...	...	१=)
१३	भारत रमणी	,,	...	...	॥।=)
१४	सूमके घर धूम	,,	...	...	।)

अध्याय-सूची ।

पृष्ठ सं०

कालिदास और भवभूति।

पहला परिच्छेद।

आख्यानवस्तु (कथाभाग)।

अभिज्ञानशकुन्तल कालिदासका श्रेष्ठ नाटक है, और बहुत लोगोंके मतसे यही उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है। किसीने कहा भी है—"कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशकुन्तलम्।" अर्थात् अभिज्ञानशकुन्तल कालिदास कविकी कविताका सर्वस्व है। उसी तरह उत्तररामचरित नाटक भवभूतिकी श्रेष्ठ रचना है। इन दोनों महा कवियोंकी तुलनात्मक समालोचना करनेके लिए इन दोनों नाटकोंकी तुलना करना ही यथेष्ट होगा।

अभिज्ञानशकुन्तल नाटकका कथाभाग कालिदासने महाभारतमें वर्णित शकुन्तलोपाख्यानसे लिया है। पद्मपुराणके स्वर्गखण्डमें भी शकुन्तलाका उपाख्यान वर्णन किया गया है, और उस उपाख्यानके साथ अभिज्ञानशकुन्तल नाटकका बहुत अधिक सादृश्य भी है। किन्तु बहुत लोगोंकी सम्मति यह है कि पद्मपुराणकी रचना अभिज्ञानशकुन्तलके बाद हुई है, और उसका शकुन्तलोपाख्यान कालिदासके अभिज्ञानशकुन्तल नाटकका ही काव्यके आकारमें परिवर्तित रूपान्तर है।

इसी कारण साहस करके मैं यह नहीं कह सकता कि पद्मपुराणमें वर्णित शकुन्तलोपाख्यान ही अभिज्ञानशकुन्तलका मूल आधार है।

महाभारतमें वर्णित शकुन्तलोपाख्यानका सारांश यह है:—

"शकुन्तला विश्वामित्र मुनि और मेनका अप्सराकी सन्तान थी; उसे माता-पिता दोनों वनमें छोड़कर चले गये। महर्षि कण्वने उसका पालन किया। शकुन्तला जिस समय जवान हुई, उस समय एक दिन राजा दुष्यन्त शिकारके लिए निकले, और घूमते-घूमते घटना-क्रमसे महर्षि कण्वके आश्रममें पहुँचे। वहाँ शकुन्तलाके रूप पर रीझकर उन्होंने गान्धर्वविधिसे शकुन्तलाका पाणिग्रहण किया, और फिर वे अकेले ही अपनी राजधानीको लौट गये।

"जिस समय यह सब हुआ, उस समय महर्षि कण्व आश्रममें नहीं थे। वे जब आश्रममें लौट कर आये, तब ध्यान-बलसे सब जान गये। क्षत्रियोंमें गान्धर्वविवाह ही प्रशंसनीय माना जाता है, इस लिए ऋषिवरने उसका अनुमोदन किया। पीछे कण्वके आश्रममें ही शकुन्तलाके एक पुत्र उत्पन्न हुआ। कण्व मुनिने पुत्रवती शकुन्तलाको राजाके घर भेज दिया।

"शकुन्तला जब राजसभामें पहुँचाई गई, तब दुष्यन्त उसे पह-चान नहीं सके, और उन्होंने शकुन्तलाको पत्नीरूपसे ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया। उसके बाद आकाशवाणी हुई कि शकुन्तला उनकी विवाहिता स्त्री है, और तब राजाने शकुन्तलाको ग्रहण किया। असलमें ब्याहका वृत्तान्त राजाको याद था। लेकिन पहले लोकलज्जाके भयसे उन्होंने शकुन्तलाको ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया था।"

इस उपाख्यानको कालिदासने अपने नाटकमें इस तरह रक्खा है—

पहला अंक ।

दुष्यन्तका शिकारके लिए निकलकर कण्व मुनिके आश्रममें उपस्थित होना । दुष्यन्त और शकुन्तलाका परस्पर परिचय और प्रेम । शकुन्तलाकी सहेली अनसूया और प्रियंवदाका इस विषयमें उत्साह देना ।

दूसरा अंक ।

दुष्यन्त और वयस्य विदूषकका वार्तालाप । राजाका शिकार करनेमें निरुत्साह होना और वयस्यके साथ शकुन्तलाके सम्बन्धमें वार्तालाप । राजाको शिकारमें प्रवृत्त करनेके लिए सेनापतिका निष्फल अनुरोध । दो तापसोंका प्रवेश और राक्षसकृत विघ्ननिवारणके लिए राजासे अनुरोध । माताकी आज्ञाकी पूर्तिके लिए दुष्यन्तका अपने वयस्यको नगर भेज देना और कण्वके तपोवनमें फिर प्रवेश ।

तीसरा अंक ।

दुष्यन्त और शकुन्तलाका परस्पर प्रेम जताना और गान्धर्वविवाहका प्रस्ताव । सहेलियोंका इस विषयमें सहायता देना ।

चौथा अंक ।

दूरपर विरहिणी शकुन्तलाकी स्थिति; अनसूया और प्रियंवदाका वार्तालाप । शकुन्तलाके सामने दुर्वासाका प्रवेश और शकुन्तलाको शाप देना । कण्वका आश्रममें लौटकर आना और शकुन्तलाको तापसी गौतमी तथा दो तापस शिष्योंके साथ पति (दुष्यन्त) के घर भेजना।

[इस अंकमें हम जानते हैं कि राजाने शकुन्तलासे विदा होते समय उन्हें निशानी (अभिज्ञान) के तौरपर एक अँगूठी दी थी ।]

पाँचवाँ अंक ।

राजसभामें राजा दुष्यन्त । गौतमी और दोनों तपस्वियोंके साथ शकुन्तलाका प्रवेश, प्रत्याख्यान और अन्तर्द्धान हो जाना ।

पाँचवाँ अंक ।

धीवर, नागरिक और दो सिपाही । अँगूठीका उद्धार ।

छठा अंक ।

विरही राजाका विलाप । स्वर्गसे इन्द्रका निमन्त्रण प्राप्त होना ।

सातवाँ अंक ।

स्वर्गसे लौटते समय दुष्यन्तका हेमकूटपर्वत पर पहुँचना । अपने पुत्रको देखना और शकुन्तलाके साथ पुनर्मिलन ।

देखा जाता है कि उपाख्यान भागके सम्बन्धमें महाभारतके साथ इस नाटकमें कोई विशेष वैषम्य नहीं है । कालिदासने मूल-उपाख्यानको केवल पल्लवित भर किया है। प्रधान वैषम्यकी बातें ये हैं कि (१) महाभारतके अनुसार महर्षिके आश्रममें ही शकुन्तलाके पुत्र हुआ था; परन्तु कालिदासके नाटकमें शकुन्तला-प्रत्याख्यानके उपरान्त उस पुत्रकी उत्पत्ति हुई है । (२) महाभारतकी शकुन्तलाका उसी सभामें प्रत्याख्यान भी हुआ और ग्रहण भी हुआ; परन्तु नाटककी शकुन्तलाका प्रत्याख्यान सभामें हुआ और ग्रहण अन्य समय अन्य स्थानमें हुआ । (३) सबसे बढ़कर वैषम्य राजाका दिया हुआ अभिज्ञान (निशानी) और दुर्वासाका दिया हुआ शाप है। महाभारतमें इन दोनों बातोंकी चर्चा भी नहीं है ।

जैसे कालिदासने अपने नाटकका उपाख्यान महाभारतसे लिया है, वैसे ही भवभूतिने उत्तररामचरित नाटकका उपाख्यान भाग बाल्मीकीय रामायणसे लिया है । रामायणका उपाख्यान यह है—

" लंकाविजयके बाद रामचन्द्र अयोध्यामें राज्य कर रहे थे । प्रजाने सीताके चरित्रके सम्बन्धमें बुरा-भला कहना शुरू किया । रामने अपने वंशकी मर्यादाकी रक्षाके लिए तपोवन दिखानेके बहाने सीताको वन

भेज दिया । सीताने वाल्मीकि मुनिके आश्रममें लव और कुश नामके दो यमज (जुड़िए) पुत्र उत्पन्न किये । उसके बाद रामने अश्वमेध यज्ञ किया । उन्होंने तपस्यारत शूद्रक राजाको मार डाला । पीछेसे अश्वमेध यज्ञके अवसर पर महर्षि वाल्मीकि लव और कुशको साथ लिये राजसभामें आये । वहाँ लव और कुशने वाल्मीकि-रचित रामा-यणका गान किया । रामचन्द्रने अपने पुत्रोंको पहचान लिया, और सीताको फिर ग्रहण करनेकी अभिलाषा प्रकट की । किन्तु उन्होंने सीताके सतीत्वको प्रजाके सामने प्रमाणित करनेके लिए अग्निपरीक्षाका प्रस्ताव किया । अभिमान और क्षोभके मारे सीताजी पृथ्वीके भीतर प्रवेश कर गईं ।"

भवभूतिने अपने नाटकमें इस उपाख्यानको इस तरह सजाया है:—

पहला अंक ।

अन्तःपुरमें सीता और रामचन्द्र बैठे हैं । अष्टावक्र मुनिका प्रवेश । उनके आगे प्रजारञ्जनके लिए जानकी तकको त्याग करनेके लिए रामकी प्रतिज्ञा । चित्रपट देखते-देखते सीताका तपोवन देखनेकी इच्छा प्रकट करना । दुर्मुख नामके जासूसका प्रवेश, और सीताके चरित्रके सम्बन्धमें लोकापवादकी सूचना । रामका सीताको त्याग देनेका संकल्प ।

दूसरा अंक ।

रामका पञ्चवटीके वनमें प्रवेश और शूद्रक राजाका सिर काट डालना । रामका जनस्थानकी सैर करना ।

तीसरा अंक ।

वासन्ती, तमसा और छाया-सीताके सामने रामचन्द्रका विलाप । (इस अंकके विष्कंभकमें तमसा और मुरलाकी बातचीतमें प्रकट होता

है कि रामने सुवर्णमयी सीताकी प्रतिमाको सहधर्मिणीका स्थान देकर उसके साथ अश्वमेध यज्ञ किया है।) वनवासके अन्तमें प्रसववेदनासे पीड़ित होकर सीता गंगामें फाँद पड़ती हैं। पृथ्वी तथा भागीरथी देवी उनको पातालमें ले जाकर रखती हैं, और उनके दोनों यमज कुमार लव और कुशको महर्षि वाल्मीकिके हाथमें सौंप देती हैं।

चौथा अंक।

जनक, अरुन्धती और कौशल्याका विलाप। लवके साथ उनकी मुलाकात।

पाँचवाँ अंक।

लव और चन्द्रकेतुका युद्ध।

छठा अंक।

विष्कंभकमें विद्याधर और विद्याधरीकी बातचीतके द्वारा उस युद्धका वर्णन। लव, कुश और चन्द्रकेतुके साथ रामकी भेंट, और कुशके मुखसे वाल्मीकिकृत रामायणकी गाथा सुनना।

सातवाँ अंक।

रामका सीता-निर्वासनका अभिनय देखना। रामसे सीताका पुनर्मिलन।

भवभूतिने मूलमें रामायणका कथाभाग प्रायः कुछ भी नहीं लिया। पहले तो रामायणके रामने वंश-मर्यादाकी रक्षाके लिए छलसे जानकीको वन भेजा, किन्तु भवभूतिके रामने प्रजारञ्जन व्रतका पालन करनेके लिए किसी तरहका छल न करके स्पष्ट रूपसे जानकीको त्याग दिया। दूसरे, सिर काटनेपर शम्बूक (शूद्रक) का दिव्यमूर्ति बन जाना, छाया-सीताके साथ रामकी भेंट, लव और चन्द्रकेतुका युद्ध, इनमेंसे कोई बात रामायणमें नहीं पाई जाती। सबसे बढ़कर भारी वैषम्य रामसे सीताका पुनर्मिलन है।

अब प्रश्न हो सकता है कि उक्त दोनों कवियों (कालिदास और भवभूति) ने मूल-उपाख्यानको इस तरह विकृत क्यों किया ?

कालिदासने शकुन्तलाके पुत्र (सर्वदमन) के द्वारा शकुन्तला और दुष्यन्तको मिलाया है। संभवतः इस समय कविके मनमें लव-कुश-कथाका खयाल हो आया था। यह व्यतिक्रम कवित्वके हिसाबसे कल्पित हुआ होगा। मिलनके सम्बन्धका वैषम्य भी इसी तरहकी कवि-कल्पना है। किन्तु प्रधान वैषम्य जो अभिज्ञान (निशानी) और अभिशाप है, उसकी कल्पना इस उद्देश्यसे नहीं की गई है। कविने एक गुरुतर उद्देश्यसे उक्त दोनों घटनाओंकी अवतारणा की है।

हम देखते हैं, इस अभिज्ञान और दुर्वासाके अभिशापको शकुन्तला नाटकके अन्तर्गत करनेका एक फल यह हुआ है कि उससे दुष्यन्त दोषसे बच गये हैं। कालिदासने जिसे अपने नाटकका नायक बनाया है, वह मूल महाभारतके उपाख्यानमें एक लंपट राजा है, उसके बहुतसी रानियाँ हैं, वह मधुमत्त भ्रमरकी तरह एक फूलसे दूसरे फूल पर रस लेता फिरता है। वह यदि एक सुन्दर कुसुमकली देखते ही उसके पास उड़कर पहुँच जाय, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? वह अगर एक मुग्ध बालिकाके धर्मको प्रकारान्तरसे नष्ट करके भाग जाय, तो वह भी उसके लिए संपूर्ण स्वाभाविक है। उसके बाद राजसभामें या अन्तःपुरमें वह अगर उस लज्जाकी बातको प्रकट न करे, या स्वीकार न करे, तो वह भी उसके लिए अस्वाभाविक नहीं है। किन्तु कालिदासने दुष्यन्तको धार्मिकश्रेष्ठ कर्तव्यपरायण राजाके रूपमें अङ्कित करनेका प्रयास किया है। इसी कारण कालिदासने उसको दो बार कलंकसे बचा दिया है। एक बार गान्धर्वविवाहसे, दुबारा अभिज्ञान और दुर्वासाके दिये हुए शापसे।

इस नाटकमें वर्णित दुष्यन्तके चरित्रको मानसिक अणुवीक्षण (खुर्दबीन) से देखनेपर वह एक रसिक पुरुष ही जान पड़ता है। दुष्यन्तने जो महर्षि कण्वके आश्रममें जाकर अतिथि होना स्वीकार किया, उसके सम्बन्धमें कविके न कहने पर भी पाठकगण अच्छी तरह समझ सकते हैं कि उसके साथ वैखानसके "दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य" (अर्थात् महर्षि कण्व कन्या शकुन्तलाको अतिथिसत्कारका भार देकर) इस कथनका बहुत कुछ सम्बन्ध है। इस आकारान्त शकुन्तला शब्दने राजाके मनमें कुछ कौतूहल उत्पन्न कर दिया। राजाने जो इसका उत्तर दिया कि "अच्छी बात है! तां द्रक्ष्यामि (उसे देखूँगा)," सो बिलकुल उदासीन भावसे नहीं दिया था। उसके उपरान्त सखियोंके साथ शकुन्तलाको आश्रमके उपवनमें देखकर जो उसने अपने मनमें सोचा कि "दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः" (अर्थात् निश्चय ही वनलताओंने अपने गुणोंसे उद्यानलताओंको दूर कर दिया—परास्त कर दिया) सो यह भी कोरी कविकल्पनाके भावसे नहीं सोचा। अगर यह सोचना केवल कविकी कल्पना होता, तो उसके बाद ही "छायामाश्रित्य" (छाँहमें खड़े होकर) छिपकर देखनेका क्या प्रयोजन था? जहाँ मनमें कुछ पाप होता है, वहीं लुकना छिपना होता है। दुष्यन्तने चोरकी तरह छिपकर, तीनों सखियोंकी बातचीत सुनकर, जब यह जान लिया कि उन तीनोंमें शकुन्तला कौन है, तब उसने जो यह कहा कि कण्वमुनि "असाधुदर्शी" हैं, जो ऐसे रत्नको "आश्रमधर्मे नियुङ्क्ते," अर्थात् तपस्वियोंके काममें लगाते हैं, सो हृदयमें करुणरस उत्पन्न हो आनेसे नहीं कहा। वह "पादपान्तरित" (वृक्षकी आड़में) होकर उस तपस्विनी बालिकाको देखता है, और अपने मनमें सोचता है—

"इदमुपहितसूक्ष्मग्रन्थिना स्कन्धदेशे
स्तनयुगपरिणाहाच्छादिना वल्कलेन।
वपुरभिनवमस्याः पुष्यति स्वां न शोभां
कुसुममिव पिनद्धं पाण्डुपत्रोदरेण ॥"

[अर्थात् शकुन्तलाके कंधेपर सूक्ष्म गाँठ देकर जो वल्कल-वस्त्र बाँध दिया गया है, वह संपूर्ण स्तनमण्डलको ढके हुए हैं। जैसे पके पीले पत्तोंसे ढका हुआ फूल अपनी संपूर्ण शोभाको नहीं प्राप्त होता, वैसे ही इस शकुन्तलाका अभिनव शरीर इस आवरणके कारण अपनी पूर्ण शोभाको प्रकट नहीं कर पाता।]

पाठकगण ध्यान देकर देखें कि, राजाका लक्ष्य विशेष रूपसे कहाँ-पर है? इसके बाद राजा स्वयं ही साफ साफ कह देता है—"अस्यां अभिलाषि मे मनः।" (मेरा मन इसको चाहता है, इसे पानेकी अभिलाषा करता है।)—पाठकोंका सब संशय दूर हो गया।

किन्तु इस संकटमें कालिदास दुष्यन्तको खूब बचा गये हैं। राजा लालसावश उत्तेजित होकर भी शकुन्तलाके साथ अपने विवाहहीकी बात सोचता है। वह शकुन्तलाके जन्म और भविष्यके सम्बन्धमें प्रश्न करता है, और सोचता है—

"सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।"

[संदेहास्पद वस्तुओंमें सज्जनोंके अन्तःकरणकी प्रवृत्ति ही प्रमाण है। अर्थात् अनुचित कामकी ओर उनकी प्रवृत्ति ही नहीं होती।]

फिर जब राजाने जान लिया कि शकुन्तला विश्वामित्रकी कन्या है, और उनका जन्म मेनका अप्सराके गर्भसे हुआ है, तब उसके मनके ऊपरसे एक बड़ा भारी बोझ उतर गया। वह अपने मनमें कहने लगा—

"आशङ्कसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम्।"

[अरे मन, तू जिसे आग जानकर शंका करता था, वह तो यह छूने लायक रत्न है।]

इस जगह पर कविने दिखाया कि राजा कामुक अवश्य है, लेकिन लंपट नहीं है। इस मानसिक विप्लवमें उसका मनुष्यत्व नहीं चला गया, और वह कामांध होकर भी विवेकसे भ्रष्ट नहीं हुआ। वह रूप-पिपासा-पूर्ण नेत्रोंसे शकुन्तलाको देखता अवश्य है। वह उस तपस्विनी बालिकाको देखते ही अपने उपभोगकी वस्तु सोचता अवश्य है, लेकिन तो भी वह मन ही मन शकुन्तलाके साथ अपने व्याहकी बात ही सोचता है। चाहे जो हो, उस समय शायद वह बालिकाको धर्मभ्रष्ट करके भागना नहीं चाहता, उसका इरादा अच्छा है।

कामोपासक कविगण विवाह-पदार्थको निश्चय ही अत्यन्त गद्यमय समझते हैं। मानों विवाह स्वर्गीय प्रेममें एक प्रकारकी बाधा है। उनके मतमें विवाह एक अति अनावश्यक झंझट है। वे सोचते हैं कि काव्यमें विवाहके लिए जगह नहीं है।

इसमें संदेह नहीं कि Platonic Love प्रेममें विवाहका प्रयोजन नहीं है। कारण, उसके भविष्य इतिहासका अन्त उस प्रेमहीमें है। किन्तु जहाँ यौनमिलन (सहवास) है, वहाँ विवाह एक ऐसा कार्य है, जो सर्वथा अपरिहार्य है, जिसके विना काम ही नहीं चल सकता। विवाहके विना यह मिलन एक पशुओंकी क्रिया मात्र ठहरता है और प्रेम पदार्थ भी कर्तव्य-ज्ञान-हीन काम-सेवाका रूप धारण कर लेता है। विवाह बतला देता है कि यह मिलन केवल आज ही भरका नहीं है, यह क्षणिक संभोग नहीं है, इसका एक भारी भविष्य है; यह चिर-जीवनका मिलन है। विवाह समझा देता है कि नारी केवल भोगका ही

पदार्थ नहीं है, वह सम्मानके योग्य है। विवाहसंस्कार घरमें सुखका फुहारा है, सन्तानके कल्याणका कारण है और सामाजिक मंगलका उपाय है। इसके ऊपर केवल व्यक्तिकी ही शान्ति निर्भर नहीं है, संपूर्ण समाजकी शान्ति भी इसीके ऊपर है। विवाह ही कुत्सित कामको सुन्दर बनाता है, उद्दाम प्रवृत्तिके मुँहमें लगाम देकर उसे संयत करता है; और विश्वकी सृष्टिको स्वर्गकी ओर खींचकर ले जाता है। पशुओंमें विवाह नहीं है, असभ्य जातियोंमें भी विवाह नहीं है। विवाह सभ्यताका फल है। यह कुसंस्कार नहीं है, आवर्जना (कूड़ाकरकट) नहीं है, विपत्ति नहीं है।

क्या काव्यमें विवाहके लिए स्थान नहीं है ? तो क्या काव्यमें उच्छृंखल कामसेवाको, नग्नमूर्तिके दर्शनसे उद्दीप्त लालसाकी उत्तेजनाको, और पाशव संयोगकी क्षणिक उन्मादनाको ही स्थान है ? विवाहके मिससे भी काव्यमें इन सब बातोंका वर्णन निन्दनीय है। सभी महाकाव्योंमें ऐसे बीभत्स दृश्य ऊह्य रहते हैं। उनका प्रकट वर्णन नहीं रहता। केवल भारतचंद्र (एक बंगाली कवि) के समान कामकविगण ही ऐसे वर्णन करके परम आनंद प्राप्त करते हैं। विना विवाहके इन बातोंका वर्णन केवल व्याधिग्रस्त मस्तिष्कका विकार अथवा पागलका प्रलाप मात्र है।

महाभारतके कर्ताने भी विवाहको काव्यमें अपरिहार्य समझा है, उन्होंने पाशव-संगमका वर्णन नहीं किया। कालिदास एक महाकवि थे। उन्होंने देखा, कि कर्तव्य-ज्ञानसे रहित लालसा सुन्दर नहीं कुत्सित है। वह कुत्सित चित्र अंकित करने नहीं, सुन्दर चित्र अंकित करने बैठे थे। इसीसे उन्होंने इस जगह विवाहको अपरिहार्य समझा। चन्द्र सुंदर है, आकाश सुंदर है, फूल सुंदर है,

नदी सुंदर है, नारीके कानों तक फैले हुए नेत्र और रसीले लाल ओंठ भी सुंदर हैं। किन्तु मनुष्यके अन्तःकरणके सौन्दर्यके आगे यह सब सौन्दर्य मलिन हो जाता है। भक्ति, स्नेह, कृतज्ञता, सेवा, आत्मत्याग इत्यादिके स्वर्गीय सौन्दर्यके आगे रमणीके रमणीय सुगोल वाहु और पीन पयोधर लज्जाको प्राप्त होते हैं—शरमा जाते हैं। कर्तव्यज्ञानसे बढ़कर सुन्दर और क्या है? यह कर्तव्यज्ञान लालसाको भी चमका देता है और वीभत्स कामको भी सुंदर बना देता है। विवाहको छोड़कर लालसाका चित्र अंकित करनेसे वह सुंदर न होकर कुत्सित ही होता है। जो लोग कामी हैं, उन्हें यह चित्र अच्छा लगता है, सुन्दर होनेके कारण नहीं, वह उनके कामको उद्दीपित करता है इस लिए।

और एक जगहपर कविने दुष्यन्तको इसी तरह वहुत बचाया है। जब राजा राजधानीमें जाकर शकुन्तलाको भूल गया, तब उसने अनायास ही धर्मानुसार व्याही हुई पत्नीको जवाब दे दिया। एक कामुक, खासकर वहुतसी स्त्रियोंके स्वामी राजा तो ऐसा किया ही करते हैं। इसमें आश्चर्यकी क्या वात है? किन्तु कविने अभिज्ञान (निशानीकी अँगूठी) और अभिशापके द्वारा दुष्यन्तको बचा लिया। उसने जाते समय शकुन्तलाको जो अपने नामके अक्षरोंसे अंकित अँगूठी दी, उससे विदित होता है कि उसने शकुन्तलाको उसी घड़ी धर्मपत्नी स्वीकार कर लिया। और उस अभिशापसे यह सूचित होता है कि राजाका शकुन्तलाको भूल जाना एक लंपट पुरुषकी विस्मृति नहीं है, उसका कारण दैव है। उसमें राजाका कुछ वश नहीं था। यहाँ तक कि कविने धर्मभयको ही शकुन्तलाके प्रत्याख्यानका कारण दिखलाया है। कविने नाटकमें इस विषयकी अवतारणा इस तरह की है।

चौथे अंकमें विरहपीड़ित शकुन्तला दुष्यन्तके ध्यानमें डूबी हुई है। दुर्वासा ऋषिने आकर कहा—"अयमहं भोः।" (अजी यह मैं आया हूँ।) शकुन्तलाका ध्यान दूसरी ओर था, उसने नहीं सुन पाया। उसके बाद अनसूयाने सुना, दुर्वासा शाप दे रहे हैं—

"विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन्
कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव॥"

[तू अनन्य मनसे जिस पुरुषका ध्यान कर रही है और इसी कारण अतिथिरूपसे उपस्थित हुए मुझ तपोधनका आना भी तुझे नहीं मालूम हुआ, वह पुरुष अच्छी तरह याद दिलानेपर भी तुझको नहीं पहचान सकेगा, जैसे मद्य आदि पीकर मतवाला हुआ आदमी पहले कही हुई अपनी बातको याद दिलाने पर भी नहीं स्मरण कर सकता।]

अनसूयाने देखा, महर्षि दुर्वासा शकुन्तलाको शाप देकर चले जा रहे हैं। तब वह जल्दीसे जाकर महर्षिके पैरोंपर गिर पड़ी और कहने लगी—हमारी प्रिय सखी अभी बालिका है, उसके अपराध पर ध्यान न दीजिए। अंतको दुर्वासाने प्रसन्न होकर कहा—कोई आभूषण अभिज्ञान (निशानी) के तौरपर दिखानेसे राजाको स्मरण हो आवेगा। बादको शकुन्तला जब अपने पतिके घर जाने लगी, तब अनसूया या प्रियम्वदा किसीने दुर्वासादत्त शापकी चर्चा शकुन्तलासे नहीं की। जानेके समय आपहीसे घबराई हुई शकुन्तलाके मनमें एक और खटका पैदा कर देनेसे क्या लाभ है, यही सोचकर शायद उन्होंने वह बात गुप्त रक्खी। किन्तु बिदाके समय दुष्यन्तकी दी हुई अँगूठी दिखाकर इतना अवश्य कह दिया कि "अगर राजर्षि तुमको पहचान न सकें, तो यह अभिज्ञान उन्हें दिखा देना।"

इसी अभिज्ञानको लेकर शकुन्तला नाटककी रचना हुई है। किन्तु दुर्वासाका दिया हुआ शाप न रहनेपर भी इस अभिज्ञानका वृत्तान्त आदिसे अन्ततक मेल खा जाता, कहीं असंगति न होती—केवल इतना ही होता कि राजा दुष्यन्तको धर्मपत्नीको न ग्रहण करनेवाले लम्पटके रूपमें चित्रित करना पड़ता।

भवभूतिने भी एक बार रामको बचानेके लिए इसी तरहकी चतुराई की है। वाल्मीकिके रामने अपनी वंशमर्यादाकी रक्षाके लिए पति-व्रता पतिप्राणा सीताको छलसे वन भेज दिया था। भवभूतिने देखा, इससे रामका चरित्र मलिन हो जाता है। सर्वत्र न्यायविचार ही राजाका सबसे प्रधान कर्तव्य है। उनके लिए एक ओर समग्र ब्रह्माण्ड है, और एक ओर न्यायविचार है। वंश रसातलको जाय, राज्य भी चला जाय, किन्तु निरपराधिनीको दण्ड नहीं देंगे—ऐसा ही उनका विचार होना उचित था। वंशमर्यादाकी रक्षा और कन्याका व्याह करना भी धर्म है, किन्तु उसकी अपेक्षा उच्च धर्म न्यायविचार है। राम जानते थे कि सीता निरपराधिनी है। जो राजा वंशमर्यादाकी रक्षाके लिए निरपराधिनी स्त्रीको निर्वासन-दण्ड देता है, उस राजाकी वंशमर्यादाकी रक्षा नहीं होती, वह राजा अपने वंशसहित नष्ट हो जाता है। भव-भूतिने देखा, इन रामसे काम नहीं चलेगा। इसीसे उन्होंने अष्टावक्र ऋषिके सामने रामसे प्रतिज्ञा कराई कि—

"स्नेहं दयां तथा सौख्यं यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥"

[अर्थात्—प्रजारञ्जनके लिए स्नेह, दया, सुख, यहाँतक कि यदि जानकीको भी छोड़ना पड़े तो मुझे व्यथा नहीं होगी।]

भवभूतिने दिखलाया कि राजाका प्रधान धर्म प्रजारंजन है। उसी प्रजारंजनरूप कर्तव्यका पालन करनेके लिए रामने निरपराधिनी सीताको वनमें भेज दिया। इस प्रकार भवभूतिने यथासंभव रामके चरित्रको निर्दोष कर लिया।

भवभूतिने और भी एक जगह रामको दोषसे बचाया है। रामायणमें यह नहीं लिखा है कि पुण्यात्मा राजा शूद्रकका सिर जब रामने काट डाला, तब वे दिव्यरूप धारण करके रामके निकट उपस्थित हुए, और उनको जनस्थानकी सैर कराने लगे। रामायणके रामने शूद्रकको मार डाला, और उसका अपराध यह था कि वह शूद्र होकर तपस्या कर रहा था! भवभूतिने देखा, यह तो अत्यन्त अविचारका कार्य है। पुण्यकार्यके लिए प्राणदण्डकी व्यवस्था! इन रामसे काम नहीं चलेगा। इसीसे भवभूतिके रामने कृपापूर्वक तरवारसे शूद्रकका सिर काटकर उसे शापसे मुक्त कर दिया।

किन्तु कालिदास और भवभूति इन दोनों कवियोंके इस तरह रद्दोबदल करनेका एक विशेष कारण भी है।

संस्कृत-साहित्यमें अलंकारशास्त्रके नामसे प्रसिद्ध एक शास्त्र है। कोई चाहे जितना बड़ा कवि क्यों न हो, वह उस शास्त्रका उल्लंघन नहीं कर सकता। प्राचीन कालमें सभीको शास्त्र मानकर चलना पड़ता था। जो लोग निरीश्वरवादी थे, यहाँ तक कि जिन्होंने वेदके विरुद्ध मतका प्रचार किया है, उन्हें भी कमसे कम मुखसे ही वेदको मानकर चलना पड़ता था। उक्त दोनों कवियोंको भी नाटकरचनामें अलंकारशास्त्र मानकर चलना पड़ा है। उक्त अलंकारशास्त्रका एक विधान यह भी है कि जो नाटकका नायक हो उसे सब गुणोंसे अलंकृत और दोषरहित बनाना ही होगा।

कोई कोई पाठक कहेंगे कि यह नियम अत्यंत कठोर है, और इससे नाटककारकी स्वतन्त्रता नष्ट होती है। किन्तु गानकी ताल, नृत्यकी भावभंगी, कविताके छंद और सेनाकी चाल इत्यादि सभी बड़ी वस्तुओंके कुछ बँधे हुए नियम होते हैं। यह बात नहीं है कि निरंकुश होनेके कारण कवि लोग नियमके शासनको माननेके लिए सर्वथा ही बाध्य न होते हों।

नियम होनेके कारण ही काव्य और नाटक सुकुमार-कला कहलाते हैं। नियमबद्ध होनेके कारण ही काव्यमें इतना सौन्दर्य है। अब विचा- रणीय केवल यही है कि यह नियम उचित है या अनुचित।

मेरा विश्वास है कि "नायक सब गुणोंसे युक्त होना चाहिए," इस नियमका उद्देश्य यह है कि नाटकका विषय महत् होना चाहिए। इसी कारण प्रायः अधिकांश संस्कृत भाषाके नाटकोंका नायक राजा या राजपुत्र होता है। इस नियमको पृथ्वीके सर्वश्रेष्ठ नाट्यकलाके जाननेवाले लोग कार्यद्वारा स्वीकार करते हैं, यद्यपि उनके यहाँ ऐसा कोई नियम निश्चित नहीं है। शेक्सपियर (Shakespeare) के सर्वश्रेष्ठ नाटकोंका नायक या तो सम्राट् है, या राजा है, या राजपुत्र है। [मैकबेथ (Macbeth) बादको राजा हुआ था, और ओथेलो (Othello) एक जेनरल (General) था।] इटलीके सर्वोत्कृष्ट चित्रकारोंने ईसाके जीवनचरितको ही अपने चित्रोंका विषय चुना है। होमर (Homer) महाकविका इलियडकाव्य राजाके साथ राजाके युद्धकी घटना लेकर रचा गया है।

आधुनिक नाट्य-साहित्यके लेखक इस मतको नहीं मानते। महा- कवि इबसन (Ibsen) के लिखे हुए प्रसिद्ध सामाजिक नाटकोंके सभी नायक गृहस्थ हैं। वास्तवमें गृहस्थोंके आचरण ही सामाजिक

नाटकोंके उपादान हैं; उन्हींको लेकर सामाजिक नाटक लिखे जा सकते हैं। स्पेन, पुर्तगाल और इँग्लैण्डके चित्रकार लोग सामान्य मनुष्यों और दृश्योंको ही चित्रित करके जगत्प्रसिद्ध और विश्वमान्य हुए हैं। किन्तु जान पड़ता है, शेक्सपियरके सर्वश्रेष्ठ नाटकोंके साथ इबसनके नाटकोंकी तुलना नहीं हो सकती। वैसे ही शायद रुबेन्स (Rubens) या टर्नर (Turner) के नामको एक साँसमें राफेल (Raphael), टिशियन (Titian), मिचेल एंजिलो (Michael Angilo) आदि चित्रकारोंके नामके साथ उच्चारण करनेका साहस किसीको भी नहीं होगा।

संस्कृत अलंकार-शास्त्रका नियम साधारणतः ठीक है। विषय उच्च न होनेसे नाटककी कार्यावलीमें एक प्रकारके गौरवका अनुभव नहीं होता। किसी भी बड़े चित्रकारने सिर्फ़ एक ईंटोंका भट्ठा नहीं चित्रित किया। शायद वे ईंटोंके टीलेको अत्यन्त स्वाभाविक और निर्दोष भावसे चित्रित कर सकते, किन्तु वह चित्र कभी राफेलके नाडोना (Nadonna) चित्रके साथ एक आसनमें स्थान नहीं पा सकता। वैसे ही किसी भी श्रेष्ठ नाटककारने (इबसन तकने) किसी दफ्तरके क्लर्कको अपने नाटकका नायक नहीं बनाया। लेखककी क्षमता या प्रतिभा ऐसे चरित्रके अंकित करनेमें भी अच्छी तरह व्यक्त हो सकती है, उसमें सूक्ष्म वर्णना और दार्शनिक विश्लेषण भी यथेष्ट रह सकता है; किन्तु ऐसे नाटक शेक्सपियरके जूलियस सीज़र (Julius Ceasar) नाटकके साथ एक पंक्तिमें नहीं बैठ सकते। इस तरहके चित्रों या नाटकोंसे दर्शकों या श्रोताओंका हृदय स्तंभित या स्पंदित नहीं होता; केवल उस चित्रकार या नाटककारके प्रकृति-विज्ञानको देखकर हृदयमें सहर्ष विस्मय भर उत्पन्न हो आता है। जिसे देखकर उसके

रचयिताका केवल नैपुण्य ही मनमें स्थान पाता है, वह निम्न श्रेणीकी रचना है । अत्यन्त महत् रचना वही है जिसे देख-सुनकर दर्शक या श्रोता चित्रकार या कविके अस्तित्वको भूलकर उसकी रचनामें ही, मग्न—तन्मय हो जाते हैं । जिस समय स्टेजपर Irving† अभिनय कर रहे हों, उस समय अगर यह ख़याल पैदा हो कि "वाह ! Irving तो बहुत अच्छा अभिनय करते हैं," तो वह अभिनय उत्तम नहीं कहा जा सकता। जब श्रोता हैम्लेट (Hamlet) के अभिनयमें Irving के अस्तित्वहीको भूल गया हो, तभी वह उत्तम अभिनय कहलावेगा । यही बात ग्रंथकारके संबंधमें भी है। जिस नाटकको पढ़ते पढ़ते लोगोंको यह ख़याल हो कि ग्रन्थकारका कैसा कौशल है, कैसी क्षमता है, कैसी सूक्ष्म-दृष्टि है, कैसा सौन्दर्यज्ञान है, इत्यादि इत्यादि, वह भी अति उच्चश्रेणीका नाटक नहीं है । जो नाटक पाठकको तन्मय कर देता है, पढ़नेवालेके सारे विचारों, समस्त अनुभूतियों, और संपूर्ण मनोयोगको अपनेमें लीन कर लेता है, पाठकके ज्ञानको लुप्त कर लेता है, वही अत्यन्त उच्चश्रेणीका नाटक है ।

राजाके प्रेम, राजाके युद्ध और राजाकी उन्मत्ततामें ऐसा ही एक मोह है । राजा शब्द ही एक भावका आधार है । वह भाव यह है कि ये संपूर्ण जातिभरके प्रतिनिधि हैं, सब लोग इन्हें मानते हैं, ये संपूर्ण जातिकी महिमा हैं—बन्धन हैं—केन्द्र हैं । राजा जब राहमें निकलता है, तब लोग उसे देखनेके लिए जमा होते हैं । वह राज-सभामें बैठता है तो लोग टकटकी लगाकर अतृप्त दृष्टिसे उसकी ओर देखते हैं । राजाके मामलेमें, राजाकी बातोंमें मानों कोई निगूढ़ता भरी हुई है । राजा उठता है तो लोग कहते हैं, राजासाहब उठे ! राजा

† एक प्रसिद्ध ऐक्टर या अभिनेता ।

शयन करता है, तो लोग कहते हैं, राजासाहब शयन करने गये। राजा लंपट होनेपर भी राजा है। राजाका हाल सुनना छोटे बच्चेतक पसंद करते हैं। इसीसे घरकी बड़ी बूढ़ियाँ बच्चोंके आगे कहानी कहती हैं—एक राजा था, उसके दो रानियाँ थीं। एक दिन वह शिकार करने चला। राहमें उसे एक सुंदरी राजकुमारी देख पड़ी। इत्यादि। राजकन्याके बिना कहानीका रंग ही नहीं जमता। और आश्चर्यकी बात तो यह है कि ऐसे वक्ता या श्रोता राजाके बारेमें कुछ भी ज्ञान नहीं रखते!

किन्तु मुझे जान पड़ता है कि बहुत कुछ इसी कारण इस मामलेमें इतना मोह देख पड़ता है—राजाके सम्बन्धमें कौतूहल उत्पन्न होता है। जिस विषयको हम नहीं जानते, किन्तु जिसके सम्बन्धमें कभी कभी कुछ सुन पाते हैं, उस विषयमें और भी जाननेका कौतूहल होता है। और फिर ये और कोई नहीं, स्वयं राजा हैं। आँखें उठाकर टकटकी लगाकर उन्हें देखना होता है; उनके इशारेपर लाखों सिपाही युद्धके मैदानकी ओर दौड़ पड़ते हैं; उनके धनसे प्रतिदिन लाखों परिवारोंका भरण-पोषण होता है। उनका महल जैसे कक्षों या कमरोंका एक जंगल है। जान पड़ता है, इन्हीं सब कारणोंसे राजाकी बात खूब भड़कीली जान पड़ती है।

नाटककार लोग भी राजाके वृत्तान्तको ही वर्णनीय समझते हैं। वे भी एक विस्तृत कार्यक्षेत्र चाहते हैं, जिसमें कार्यकी अबाध गति हो। समुद्रके न होनेपर लहरें दिखानेमें कोई सुख नहीं है!

इसी कारण अधिकांश श्रेष्ठ नाटकोंके नायक राजा हैं। राजाके होनेसे विषय महत् हो गया। और उसपर अगर वह राजा सर्वगुणसंपन्न हुआ, तो विषय महत्तर हो गया।

मैं समझता हूँ, यह नियम संगत है कि नाटकका विषय महत् होना चाहिए। लेकिन इसका कोई भी अर्थ नहीं है कि राजाको ही नायक बनाना होगा। साधारण गृहस्थ पुरुषोंमें भी महत्प्रवृत्तियोंका होना दुर्लभ नहीं है। एक साधारण मनुष्य भी कार्यमें यथार्थ वीर हो सकता है। यथार्थ वीरता, सच्चा साहस, और प्रकृत कर्तव्यपरायणता, साधारण व्यक्तियोंके कामोंमें भी दिखाई जा सकती है। अतएव साधारण गृहस्थ भी नाटकका नायक हो सकता है।

लेकिन वह गृहस्थ महत् होना चाहिए। परन्तु नायक सर्वगुणसंपन्न अथवा सर्वथा दोषशून्य होना चाहिए, यह नियम कुछ अधिक कट्टर अवश्य है। ऐसे कट्टर या कड़े नियममें दो दोष देख पड़ते हैं। एक तो यह कि प्रायः सभी नाटक कुछ कुछ एक ही साँचेमें ढले हुए हो जाते हैं। दूसरा यह कि चरित्र अतिमानुषिक हो जाता है, स्वाभाविक नहीं रहता। कारण, हर एक मनुष्यमें कुछ न कुछ दोष रहता ही है—यही बात स्वाभाविक भी है। वर्णित मनुष्यमें दुष्प्रवृत्तिका एकदम अभाव रहनेसे वह सजीव या सच्चा मनुष्य नहीं रह जाता। वह मनुष्य कुछ गुणोंकी समष्टिके रूपमें परिणत हो जाता है। यद्यपि आइडियलिस्टिक (Idealistic)* श्रेणीके नाटकोंमें ऐसे चरित्रोंसे काम चल जाता है। किन्तु जगत्में रियालिस्टिक स्कूल (Realistic school)† के नाटक भी तो हैं, और उनकी भी आवश्यकता है। इस श्रेणीके नाटकोंमें निर्दोष मनुष्यको नायक बनानेसे वह अस्वाभाविक होता है।

मगर यह भी निश्चित है कि एक लंपट या पाजी किसी नाटक या काव्यका नायक नहीं हो सकता। ऐसे नायकको चित्रित करके

---

* आदर्शवादी। † प्रकृतवादी।

जगत्में सौन्दर्य नहीं दिखाया जा सकता। जो प्रकृत है, केवल वही सुंदर नहीं है। जो प्रकृत है, वही अगर सुंदर मान लिया जाय, तो फिर जगत्के सभी पदार्थ सुंदर हैं। और, अगर यह बात ठीक समझी जाय, तो फिर 'सुंदर' शब्दहीको कोषसे निकाल डालना चाहिए, उसका कुछ प्रयोजन ही नहीं है। कारण, कुत्सित पदार्थ होनेके कारण ही 'सुंदर' कहकर कुछ पदार्थोंको उनसे अलग करनेका प्रयोजन हुआ है। जो अ-सुंदर है, उसे नाटकका नायक नहीं बनाना चाहिए। किसी भी भारी चित्रकार या कविने अ-सुंदर व्यक्ति या पदार्थको आलेख्य या रचनामें केन्द्रीय चित्र बनाकर नहीं अंकित किया—प्रधानता नहीं दी। फिर भी सुन्दर तुलनामें और भी सुन्दर दिखाया जा सके, इसके लिए कुत्सित चित्रित किया जा सकता है।

किन्तु महाकवि शेक्सपियर इस नियमको मानकर नहीं चले। उनके सर्वोत्कृष्ट नाटकोंके विषय तो अवश्य महत् हैं, लेकिन उनके नायकोंमें कोई भी विशेष गुण नहीं पाया जाता। उनके हैम्लेटमें पितृभक्ति एक उल्लेखयोग्य गुण है। लेकिन वह नाटकभरमें केवल टालटूल करता रहा है। किंग लियर तो एक पागल ही है। वह सन्तानकी पितृ-भक्तिके परिचयस्वरूप जानता है केवल मौखिक उच्छ्वास। उसके उपरान्त उसका प्रधान दुःख यह है कि रीगन (Regan) और गोनरिल (Gonerill) ने उसके पार्श्वचरको छीन लिया है। वह पितृभक्तिका अभाव देखकर खेद करता है—"Ingratitude thow marble hearted fied" हे कृतघ्नता, तेरे पाषाणसदृश हृदयके लिए तुझे धिक्कार है। इत्यादि इत्यादि। उसका यह आक्षेप किसी पागलका प्रलाप सा जान पड़ता है। ओथेलो ईर्षापरवश होकर यहाँतक अंधा हो गया कि प्रमाण माँगे बिना ही उसने अपनी सती स्त्रीकी हत्या

कर डाली । मैकबेथ नमकहराम है । एन्टोनी (Antony) कामुक है । जूलियस सीज़र दांभिक है । किन्तु शेक्सपियरने अपने नाटकोंमें इन सब चरित्र-दुर्बलताओं या पाप-प्रवृत्तियोंका भयानक परिणाम दिखाया है । सभी जगह पापकी निष्फलता या आत्महत्या दिखलाई है । गेटे (Goethe) के फ़ास्ट (Faust) नाटकमें भी यही बात है ।

किन्तु शेक्सपियरने इन ग्रन्थोंमें इतने उच्च चरित्रोंका समावेश किया है कि उन चरित्रोंने उनके नायकोंके चारों ओर एक ज्योति फैलाकर उन नाटकोंको उज्ज्वल बना दिया है। हैम्लेट नाटकमें होरेशियो (Horetio), पालोनियस (Polonius) और ओफेलिया (ophelia) ने, किंग लियर नाटकमें केंट (Kent), फ़ूल (fool), एडगर (Edgar) और कार्डेलिया (Cordelia) ने, ओथेलो नाटकमें विशुद्ध चरित्रवाली डेस्डिमोना (Desdemona) और उसकी सहेलीने, मैकबेथ नाटकमें बैंको (Banquo) और मैकडफ (Macduff) ने, एन्टोनी एण्ड क्लियोपेट्रा (Antony and Cleopatra) नाटकमें आक्टेवियस (Octavious) ने, जूलियस सीज़र नाटकमें ब्रटस (Brutus) और पोर्शिया (Portia) ने नायकोंको मानों ढक लिया है ।

तथापि शेक्सपियरने ऐसा क्यों किया ? इसका कारण मेरी समझमें यह है कि वे धन और क्षमताका गर्व रखनेवाले अँगरेज थे। पार्थिव क्षमता ही उनके निकट अत्यन्त लोभनीय पदार्थ थी। वे महत् चरित्रकी अपेक्षा विराट् चरित्रमें अधिक मुग्ध होते थे। विराट् क्षमता, विराट् बुद्धि, विराट् विद्वेष, विराट् ईर्षा, विराट् प्रतिहिंसा, और विराट् लोभ, उनके निकट अधिक लोभनीय वस्तुयें थीं। निरीह शिशु,

पर-दुःख-कातर बुद्धदेव या भक्त चैतन्यदेव, जान पड़ता है, उनके मतके अनुसार अत्यंत क्षुद्र चरित्र हैं। यह बात नहीं है कि वे स्वार्थत्यागके महत्त्वको बिल्कुल समझते या जानते ही नहीं थे। किन्तु उन्होंने क्षमता और बाहरका भड़कीलापन दिखाकर चरित्रमाहात्म्यको उसके नीचे स्थान दिया है।

पूर्व-भूखंडके कविगण धर्मकी महिमासे महीयान् थे। उनकी दृष्टिमें धर्मका ही महत्त्व सबसे बढ़कर था। यह बात नहीं है कि वे क्षमताके मोहमें बिल्कुल पड़ते ही नहीं थे, किन्तु चरित्रका माहात्म्य उन्हें अधिक प्रीतिप्रद था। वे चरित्रको क्षमताके नीचे स्थान देना पसंद नहीं करते थे; ऐसा करना उन्हें स्वीकार नहीं था। नाटकके नायकोंको महत् बनानेके लिए यह ज़रूरत है कि उन राजाओंको, जो नायक बनाये जायँ, सब गुणोंसे युक्त होना चाहिए। महाकवि कालिदास और भवभूति दोनों ही भारतके ब्राह्मण-कवि थे। उन्होंने यथाशक्ति अपने अपने नाटकोंके केन्द्रीय अर्थात् प्रधान चरित्रोंको सर्वगुणसम्पन्न बनानेकी चेष्टा की है।

दोनों कवियोंने इस प्रकार अपने अपने नाटकके नायकको सर्वगुणसम्पन्न बनानेकी चेष्टा अवश्य की है, किन्तु उन्हें उसमें संपूर्णरूपसे सफलता नहीं हुई। उनके नाटकोंमें जगह जगहपर नायकके प्रति उनका उमड़ा हुआ क्रोध, गैरिक स्राव (गेरूके झरने) की तरह, उनके हृदयको विदीर्ण करके बाहर निकल पड़ा है, और सताई गई नायिकाओंके प्रति करुणा और अनुकंपाका भाव अपने उच्छ्वासको प्रकट कर रहा है। अभिज्ञानशाकुन्तल नाटकके पञ्चम अंकमें हम देखते हैं कि राजसभामें दुष्यन्तके द्वारा शकुन्तलाका प्रत्याख्यान होनेके पहले भी,

जिस समय क्रोध उत्पन्न होनेका कोई कारण नहीं था, गौतमी कहती है—

“णावेक्खिदो गुरुअणो इमाए तुएवि ण पुच्छिदो बन्धु।
एक्कक्कस्सअ चरिए किं भणदु एक्क एक्कस्सिं॥” V. 16

[अर्थात् इन्हों (शकुन्तला) ने गुरुजनोंकी अपेक्षा नहीं की, और आप (दुष्यन्त) ने भी बन्धु-बान्धवोंसे कोई बात नहीं पूछी। अतएव इस (आपके और शकुन्तलाके) आचरणके बारेमें महर्षि कण्व क्या कहेंगे? (जो कुछ हो गया, उसे समुचित ही समझ लेंगे।)]

यह ज्वालामय व्यंग्योक्ति है। राजाके द्वारा शकुन्तलाका प्रत्याख्यान होनेके बाद शार्ङ्गरव कहते हैं—

“मूर्च्छन्त्यमी विकाराः प्रायेणैश्वर्यमत्तानाम्।”

[ऐश्वर्य-मत्त लोगोंमें प्रायः ऐसे ही मनोविकार उत्पन्न होते दिखाई पड़ते हैं।]

इसके बाद फिर शार्ङ्गरवकी उक्ति है—

“कृतावमर्षामनुमन्यमानः सुतां त्वया नाम मुनिर्विमान्यः। V. 20
मुष्टं प्रतिग्राहयता स्वमर्थं पात्रीकृतो दस्युरिवासि येन॥”

[जैसे कोई आदमी चोरको दण्ड न देकर चुराया गया अपना धन ही उसे अर्पण कर दे, वैसे ही महर्षि कण्वने, यह जानकर भी कि तुमने उनकी अनुमति ग्रहण किये विना ही उनकी कन्याका कौमार-व्रत नष्ट किया है, तुम्हारे उस कर्मका अनुमोदन किया। उन्हीं मुनिका इस तरह अपमान करना तुम्हें उचित ही है!]

इसके बाद जब राजाने शकुन्तलाको ग्रहण नहीं किया, और वह आँचलसे मुँह ढककर रोने लगी, तब शार्ङ्गरव उसकी भर्त्सना करते हैं—

"इत्थमप्रतिहतं चापल्यं दहति ।" (अप्रतिहत चंचलता इसी तरह जलाती है ।) अर्थात् यह तुम्हारी चंचलताका फल है । बिना जाने-बूझे गुप्तरूपसे प्रणय करनेका फल अब भोग करो ।

दुष्यन्तने इस पर आपत्ति की, तब शार्ङ्गरवने कहा—

"आजन्मनः शाठ्यमशिक्षितो य-
स्तस्याप्रमाणं वचनं जनस्य ।
पराभिसन्धानमधीयते यै-
र्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः ॥"

[जिसने जन्मसे लेकर अब तक धूर्तता नहीं सीखी, उस आदमीकी बात मानने योग्य नहीं है, और जो विद्याकी तरह दूसरोंको ठगनेका पाठ पढ़ते हैं वे सत्यवादी समझे जायँ !]

यह भी एक विकट व्यंग्य है कि "जो लोग अन्य विद्याओंकी तरह पर प्रतारणाका अभ्यास करते हैं, उनकी बात बेशक विश्वासके योग्य है !" सबके अन्तमें जिस तरह गौतमी और दोनों शिष्य शकुन्तलाको छोड़कर चले गये, उससे एक उत्कट रोष प्रकट होता है—वह रोष कामुक राजा और कामुकी शकुन्तला दोनोंके प्रति है । ऋषि-शिष्य और ऋषि-कन्याके मुख और आचरणमें यह तीव्रता देखकर जान पड़ता है कि कालिदासका मनोगत भाव भी वही है ।

भवभूति भी रामको बहुत बचाकर चले हैं, तथापि तीसरे अंकमें जान पड़ता है, उन्होंने वासन्तीके मुखसे अपने मनके यथार्थ भावको प्रकट ही कर दिया है । इस छाया-सीता-विष्कंभकमें वासन्ती व्यंग्यके मर्मभेदी बाणोंसे रामके मर्मस्थलको विद्ध करती है । पहले कहती है—

" त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे ।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां
तामेव शान्तमथवा किमिहोत्तरेण ॥ "

[तुम मेरा जीवन हो, तुम मेरा दूसरा हृदय हो, तुम मेरी आँखोंको ठंडक पहुँचानेवाली चाँदनी और शरीरको सजीव सा बना देनेवाला अमृत हो—इत्यादि सैकड़ों प्रिय वचनोंसे मुग्धा सरलहृदयवाली प्रियाको प्रसन्न करके—अथवा जाने दो, आगे कहनेसे लाभ ही क्या है !]

इसके बाद जब राम कहते हैं—" लोग सुनते क्यों नहीं, यह वे ही जानें ।" तब वासन्ती कहती है—

" अयि कठोर यशः किल ते प्रियं
किमयशो ननु घोरमतः परम् । "

[हे निष्ठुर हृदय ! तुमको यश प्रिय है, किन्तु इससे बढ़कर अयश ही और क्या हो सकता है ?]

इसके बाद वह रामको वारंवार चिर-परिचित स्थान दिखादिखाकर अतीत सुखकी स्मृतिसे जर्जर करती है ।

ऐसा होना ही चाहिए । पृथ्वीपर ऐसा एक भी महाकवि नहीं उत्पन्न हुआ, जिसका हृदय दूसरेके द्वारा सताये गये आदमीके दुर्भाग्यको देखकर न रो दिया हो । जो पापी है, उसके भी दुर्भाग्यको देखकर हृदय रो उठता है । इसी कारण कवि माइकेल मधुसूदनदत्त रावणके लिए रोये हैं, मिल्टन कवि शैतानके दुःखके लिए रोये हैं । किन्तु जो निरपराध और सताई गई स्त्री है, उसका दुःख देखकर तो रोना ही होगा । डेस्डिमोना (Desdemona) की मृत्युके बाद उसकी सह-

र्षीके मुखसे निकलनेवाली तीव्र भर्त्सना देववाणीसी जान पड़ती है। कालिदासके उस रोषने गौतमीके मुखसे अपनेको प्रकट किया है। वह स्वयं कामपरवश होनेपर भी भोलीभाली तपस्विनी नारी है, प्रलुब्धा और परित्यक्ता है। उसके दुःखमें तो कविको रोना ही पड़ेगा। और सीता—जिसका चरित्र आकाशके समान निर्विकार और पवित्र है, जो नक्षत्रके समान तेजस्विनी है, हरसिंगारके फूलके समान सुंदरी है, जूहीके समान नम्र है, वह सीता—जो जगत् भरमें अपनी तुलना नहीं रखती, उसके लिए बनके पशु-पक्षी तक रोये, तब कवि क्यों नहीं रोयेंगे? इसीके लिये देवतुल्य रामके ऊपर कविके हृदयमें एक प्रकारके रोषका उदय हो आता है। भवभूतिके हृदयमें भी उस रोषका उदय हुआ है। वह रोष वासन्तीके मुखसे प्रकट हुआ है।

भवभूतिने जो अन्तमें दोनों प्रेमियों (राम और सीता) के चिर-वियोगकी जगह उन्हें मिला दिया है, सो केवल अलंकार शास्त्रके एक नियमकी रक्षाके लिए। अलंकारशास्त्रका वह नियम यह है कि सुखका दृश्य दिखाकर नाटक समाप्त करना चाहिए। संस्कृतमें Tragedy (शोकान्तता) नहीं हो सकती। संभवतः यह नियम पूर्वोक्त नियमके साथ घनिष्ठरूपसे संबंध रखता है। अगर नायक पुण्यात्मा हुआ, तो पुण्यका फल दुःख नहीं हो सकता। पुण्यकी जय और पापकी पराजय दिखानी ही होगी। नहीं तो अधर्मकी जय देखनेसे लोगोंके अधार्मिक होनेकी संभावना है।

मैं इस नियमका अनुमोदन नहीं कर सकता। कारण, वास्तव-जीवनमें प्रायः अधर्महीकी जय अधिक देखी जाती है। अगर ऐसा न होता, तो क्षुद्रता, स्वार्थ, और प्रतारणासे यह पृथ्वी छा न जाती। अंतमें अगर धर्मकी जय अवश्य होती, तो उन सब उदाहरणोंको देखकर अधि-

कांश मनुष्य धार्मिक हो जाते। और जो ऐसा होता, तो धार्मिक होनेके कारण कोई प्रशंसाका पात्र न होता। मनुष्य-जीवनमें देखा जाता है कि अनेक-समय धर्मको मृत्युपर्यंत सिर झुकाये रहना पड़ता है, और अधर्म शेषपर्यन्त सिर उठाये चला जाता है। ईसामसीहका जीवन और Martyr लोगोंका जीवन इसका एक ज्वलंत उदाहरण है।

एक ज़मानेमें, इँग्लैंडमें भी Poetic justice (काव्य-न्याय) नामकी एक साहित्यिक नीति थी। किन्तु उससे साहित्यका समुचित विकास न होते देखकर अँगरेज नाटक-लेखकोंने उस नीतिको एक तरहसे त्याग कर दिया! कारण, उसमें मनुष्य-जीवनका एक पहलू साहित्यमें अप्रकट रह जाता है, जिसकी पाठकोंको अपनी समझसे कल्पना कर लेनी पड़ती है।

साहित्यमें अगर अधर्मकी जय और धर्मकी हार दिखाई जाय, तो क्या उसके द्वारा दुर्नीतिकी शिक्षा दी जाती है—यह कहा जा सकता है? कभी नहीं। धर्म तभी धर्म है, जब वह आर्थिक लाभ-हानिकी ओर लक्ष्य नहीं करता, जब वह अपने दुःख-दारिद्रयकी दशामें एक गौरवका अनुभव करता है, जब धर्म-पालनका सुख ही धर्म-पालनका पुरस्कार गिना जाता है। Latimer Cranmer ने जिस तेजसे मृत्युको गले लगाया था, महाराणा प्रतापसिंहने जिस बलसे मृत्युपर्यन्त दुःख-भोग किया था, उसकी गरिमा केवल दर्शकों और पाठकोंको ही मुग्ध नहीं बनाती, स्वयं आत्मत्याग करनेवाला आदमी भी उस गौरव और सुखका अनुभव करता है।

स्वर्गलाभ होगा यह समझकर धार्मिक होना, भविष्यमें संपत्तिशाली होंगे यह सोच कर सत् होना, और प्रत्युपकार पानेकी आशासे उपकार

करना धर्म नहीं है। वह स्वार्थ-सेवा है। जो शिक्षा सत्यको खंडित या क्षुण्ण करती है, वह सत्यके साथ टक्कर खाकर चूर्ण हो जाती है। उच्च नीतिशिक्षा वही है, जो सत्यको डरती नहीं, वल्कि गले लगाती है। नीतिशिक्षा देनी हो, तो कहना होगा—"देखो, सदैव धर्मका पुरस्कार संपत्ति या सुख नहीं है; कभी कभी धर्मका पुरस्कार कोरा दुःख ही होता है। किन्तु उस दुःखका जो सुख है, उसके आगे सब तरहकी संपत्ति और सुख सिर नवाते हैं।" जो सच्चा धार्मिक है वह धर्मका कुछ भी, कोई भी, पुरस्कार नहीं चाहता। वह जो धर्म-को प्यार करता है, सो धर्मकी पदवी देखकर नहीं, धर्मके सौन्दर्यको देखकर।

सत्यका अपलाप करके धर्म बलवान् नहीं होता, साहित्यमें धर्मकी पार्थिव अधोगति देखकर, वह आदमी, जिसने धर्ममें सौन्दर्य देख लिया है, कभी धर्मकी ओरसे पश्चात्पद नहीं होगा। पश्चात्पद वही होगा, जिसने धर्मको बेचने-खरीदनेकी चीज बना रक्खा है, जो धर्मके बदलेमें कुछ चाहता है।

इसी नीतिका अनुसरण करके कालिदासने अंतको दुष्यन्त और शकुन्तलाका मिलन करा दिया है; भवभूतिने भी रामसे सीताको मिला दिया है। किन्तु उसमें कालिदासने तो मूल-महाभारतके कथा-भागको अक्षुण्ण रक्खा है, मगर भवभूति विपत्तिमें पड़ गये हैं।

उत्तररामचरित नाटकके सातवें अंकमें राम, लक्ष्मण और पुर-वासी लोग वाल्मीकिरचित सीतानिर्वासन नाटकका अभिनय देख रहे हैं। उस अभिनयमें, लक्ष्मण सीताको वनमें छोड़ आये, उसके बाद, सीताके भागीरथीके जलमें फाँद पड़नेसे लेकर उनके पाताल-प्रवेश तककी घटनाका अभिनय केवल इंगितसे हुआ। राम—

" **क्षुभितबाष्पोत्पीडनिर्भरप्रमुग्ध-**" (उमड़ रहे अश्रुप्रवाहसे आकुल और मोहको प्राप्त) होकर उस अभिनयको देखने लगे। सीता जब रसातलमें प्रवेश कर गई, तब राम—

" **हा देवि दण्डकारण्यवासप्रियसखि चारित्रदेवते लोकान्तरं गताऽसि ।**" (हाय ! देवी, दण्डक वनमें निवासके समयकी प्रियसखी, देवताओंकेसे पवित्र चरित्रवाली, तुम दूसरे लोकको चली गई !) कहकर मूर्च्छित हो गये । लक्ष्मण बोल उठे—

" **भगवन् वाल्मीके, परित्रायस्व, परित्रायस्व, एषः किं ते काव्यार्थः ।**" (भगवन् वाल्मीकिजी, रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए । आपके इस काव्यका क्या अर्थ है ?)

उसी समय नेपथ्यमें दैववाणी हुई—

" **भो भो सजङ्गमस्थावराः प्राणभृतो मर्त्यामर्त्यः पश्यत भगवता वाल्मीकिनानुज्ञातं पवित्रमाश्चर्यम् ।**"

(हे चराचर और मनुष्य तथा देवयोनि प्राणियो, भगवान् वाल्मीकिकी आज्ञासे अनुष्ठित इस पवित्र आश्चर्य घटनाको देखो ।)

लक्ष्मणने देखा—

" **मन्थादिव क्षुभ्यति गाङ्गमम्भो**
व्याप्तञ्च देवर्षिभिरन्तरिक्षम् ।
आश्चर्यमार्या सह देवताभ्यां
गङ्गामहीभ्यां सलिलादुदेति ॥"

[जैसे कोई मथ रहा हो, इस तरह गंगाका जल क्षोभको प्राप्त हो रहा है, अन्तरिक्ष देवगण और ऋषियोंसे भर गया है । कैसा आश्चर्य

है । आर्या जानकी गंगा और पृथ्वी इन दो देवताओंके साथ जलसे ऊपर आ रही हैं ।]

फिर नेपथ्यमें ध्वनि हुई—

"अरुन्धति जगद्वन्द्ये गंगापृथ्व्यौ भजस्व नौ ।
अर्पितेयं तवाभ्यासे सीता पुण्यव्रता वधूः ॥"

[हे जगत्भरकी पूजनीय और वंदनीय अरुन्धतीजी, हम गंगा और पृथ्वी दोनों उपस्थित हैं और पवित्र चरित्रवाली पतिव्रता वधू सीताको तुम्हें अर्पण करती हैं ।]

लक्ष्मणने कहा—"**आश्चर्यमाश्चर्यम्**" (आश्चर्य है-आश्चर्य है !) फिर रामसे कहा—"**आर्य पश्य पश्य**" (आर्य ! देखिए-देखिए !) किन्तु उन्होंने देखा, रामचंद्र उस समय तक मूर्छित ही हैं ।

उसके बाद असली सीताने अरुन्धतीके साथ रामके निकट जाकर स्पर्श करके उनको संजीवित किया । रामने उठकर गुरुजनोंको देखा । अरुन्धती देवीने गंगा और पृथ्वीके साथ रामका परिचय करा दिया । रामने यह कहकर उनको प्रणाम किया कि—

"कथं कृतमहापराधो भगवतीभ्यामनुकम्पितः ।"

[इतना बड़ा अपराध करनेपर भी मैं भगवतियोंकी अनुकम्पा कैसे प्राप्त कर सका !]

इसके बाद अरुन्धतीने वहाँपर एकत्र हुई प्रजामण्डलीको पुकार कर सुनाकर कहा—

"भो भोः पौरजानपदाः इयमधुना भगवतीभ्यां जाह्नवीवसुन्धराभ्यामेवं प्रशस्य ममारुन्धत्याः समर्पिता पूर्वं च भगवता वैश्वानरेण निर्णीतपुण्यचारित्रा सब्रह्मकैश्च देवैः संस्तुता सवितृकुलवधूर्देवयजनसंभवा सीतादेवी परिगृह्यत इति कथं भवन्तो मन्यन्ते ।"

[हे पुरवासी और जनपदवासी लोगो ! इन सीतादेवीको प्रशंसा-पूर्वक शुद्ध चरित्रवाली कहकर भगवती भागीरथी और भूमिने मुझ अरुन्धतीको सौंप दिया है। इसके पहले भी भगवान् अग्निदेवने निर्णय कर दिया है कि इनका चरित्र परम विशुद्ध है। ब्रह्मा और अन्य देव-गणने भी इन सूर्यवंशकी वधू और देवयज्ञसे उत्पन्न अयोनिजा सीताके पातिव्रत्यकी प्रशंसा की है। अब महाराज रामचंद्र इनको ग्रहण करते हैं। इस विषयमें तुम लोगोंकी क्या सम्मति है ? तुम इसका अनुमो-दन करते हो या नहीं ?]

लक्ष्मणने कहा—

"एवमार्ययारुन्धत्या निर्भर्त्सिताः प्रजाः कृत्स्नश्च भूतग्राम आर्यां नमस्करोति लोकपालाश्च सप्तर्षयश्च पुष्पवृष्टिभिरुपतिष्ठन्ते।"

[आर्या अरुन्धतीने यों कहकर अपवाद लगानेवाली प्रजामण्डली-की भर्त्सना की है। सब प्राणिसमूह आर्या जानकीको प्रणाम कर रहे हैं। लोकपाल और सप्तर्षिगण फूलोंकी वर्षा कर रहे हैं।]

रामने अरुन्धतीकी आज्ञासे सीताको ग्रहण कर लिया। लव कुशका प्रवेश हुआ। अभ्यर्थना, आलिङ्गन और आशिर्वादके बाद यवनिका-पतन हुआ।

भवभूतिने अपनी समझसे एक ही अंकमें, अभिनयमें वियोग, और वास्तवमें मिलन करा दिया। किन्तु हुआ उलटा, वास्तवमें वियोग और अभिनयमें मिलन हो गया। क्योंकि सीताके रसातलप्रवेशके बाद यह कविका कौशल तत्काल पकड़ लिया जाता है। अभिनयमें दिखलाये गये इस गंभीर-करुण दृश्यके बाद कल्पित मिलन, मृत्युके बाद पागलके हास्यके समान जान पड़ता है; त्यागी हुई—ऊजड़ नगरीके

ऊपर प्रातःकालीन सूर्यकिरणोंके समान भासित होता है, रोनेके ऊपर व्यंग्यसा समझ पड़ता है। किन्तु भवभूति बेचारे क्या करें? मिलन तो कराना ही होगा। उन्होंने काव्य-कलाकी हत्या करके अलंकार-शास्त्रको बचा लिया।

कालिदासने बुद्धिमानीके साथ ऐसा विषय छाँट लिया कि उसमें उन्हें काव्यकला या अलंकारशास्त्र किसीकी भी हत्या न करनी पड़ी। परन्तु भवभूतिने ऐसा विषय चुना कि अलंकारशास्त्रको अक्षुण्ण रखकर उसका नाटक बनाया ही नहीं जा सकता।

भवभूतिने इस नाटकको इस तरह समाप्त करके केवल काव्यकलाकी ही हत्या नहीं की, Poetic justice (काव्य-न्याय) का भी गला घोट दिया है। एक अत्याचारी पुरुषको अंतमें सुखी देखकर पाठक या श्रोता कोई नहीं संतुष्ट होता। परन्तु भवभूतिने इस नाटकमें वही किया है।

दुष्यन्तने जो शकुन्तलाका प्रत्याख्यान किया, उसके बारेमें कविने दिखाया है कि उसके लिए दुष्यन्त दोषी नहीं है, उसका कारण भ्रान्ति है। वह भ्रान्ति भी दैवघटित थी, और इसी कारण दुष्यन्त दोषी नहीं ठहराये जा सकते। किन्तु रामने जो सीताका त्याग किया, सो भ्रान्ति या प्रमादमें पड़कर नहीं, अपनी इच्छासे जान-बूझकर किया। प्रजाके कहनेसे, बिना विचारे, विश्वास रखनेवाली, पतिगत-प्राणा, आजन्मदुःखिनी जानकीको अकेले वनमें छोड़ दिया। इसमें संदेह नहीं कि ऐसा करनेमें खुद रामको भी कष्ट हुआ, किन्तु वह कष्ट उन्हें स्वयं अपने ही दोषसे उठाना पड़ा। रामको कष्ट हुआ, इसी लिए सीताका निर्वासन न्याय-विचार नहीं कहा जा सकता। राम निश्चित रूपसे सोच रहे थे कि सीताको वन-वास देकर वे राजाके कर्तव्यका पालन कर रहे हैं। लेकिन असलमें

उन्होंने अपने कर्तव्यका पालन नहीं किया। प्रजा जो कुछ कहे, उसीको आँख मूँदकर मान लेना या सुनना राजाका कर्तव्य नहीं है। राजाका कर्तव्य न्याय-विचार है। यदि सीता उनकी पत्नी थीं, तो क्या प्रजा नहीं थीं? माता, भ्राता, पत्नी, पुत्र आदिको प्रजाकी इच्छा होते ही वनवास देना या सूलीपर चढ़ा देना क्या उचित माना जा सकता है? Brutus (ब्रूटस) ने पुत्रके वधकी आज्ञा दी थी—किन्तु इस लिए कि पुत्र वास्तवमें दोषी था, इस लिए नहीं कि प्रजाने उसपर अभियोग लगाया था। सीतापर अभियोग लगाया गया था। राम जानते थे कि सीता बिल्कुल ही निरपराध है। अगर प्रजाके आगे भी सीताको निर्दोष प्रमाणित करनेका प्रयोजन होता, तो रामचंद्र निर्वासन-दंड देनेके पहले दुबारा अग्निपरीक्षाका प्रस्ताव भी कर सकते थे। किन्तु कोई बातचीत नहीं, जैसे अभियोग लगाया गया, वैसे ही वनवासका दंड दे दिया! सीताका भी तो कुछ अस्तित्व है। उसका हृदय भी तो अनुभव करता है। रामको उसे दुःख देनेका अधिकार क्या है? ऐसे राम निश्चय ही फिर सीताको पानके योग्य नहीं हैं। उन्होंने पाया भी नहीं—यही Poetic justice (काव्य-न्याय) है। भवभूतिके राम प्रजारञ्जनके फेरमें पड़कर एक बहुत बड़े कर्तव्यसे स्खलित हो गये हैं। वह कर्तव्य था, न्याय-विचार। उस कर्तव्यका पालन उन्होंने नहीं किया। उन्होंने सजग अवस्थामें दिन दोपहरको निरपराधिनी और विश्वास रखनेवाली सीताको वनवास दिया, इसी लिए वे उसे पानेके योग्य नहीं। यह सत्य है कि रामने यज्ञके अवसरपर सीताकी सुवर्णप्रतिमा बनवाकर रक्खी, यह सत्य है कि वे सीताके लिए रोते हुए वन-वन फिरे, लेकिन यह भी सत्य है कि उन्होंने सीताके साथ न्याय-विचार नहीं किया। अतः वे सीताको पानेके योग्य नहीं। वाल्मीकिने बहुत ही

उचित किया। किन्तु भवभूतिने अपने नाटकमें यह मिलन कराकर एक साथ ही काव्य-कला और Poetic justice (काव्य-न्याय) दोनोंकी हत्या कर डाली।

कोई कोई यह कह सकते हैं कि सीताने अपने पातिव्रत्यके प्रभावसे रामको फिर पाया। हमारी समझमें यह उक्ति सीताके प्रति घोरतर अपवाद है। यदि स्वयं सीताने उनको गँवा दिया तो बतलाना होगा कि किस दोषसे गँवा दिया। उसका तो कोई दोष ही न था। और फिर पा लिया तो बतलाइए कि खास कर किस गुणसे पा लिया। इस जगह पर दोषी राम हैं, सीता नहीं। अपने ही दोषसे राम अपनी पत्नीको गँवा बैठे। विचार करके देखा जाय तो इस तरहका अपवाद केवल सीताके प्रति ही नहीं होता—यह दुर्नाम समस्त धर्मनीतिके प्रति होता है। यह वही बात है, जिसे अँगरेजीमें adding insult to injury * कहते हैं।

जो लोग स्त्रीजातिको मर्दके घरके असबाबकी तरह समझते हैं, जो नारीको एक स्वाधीन अस्तित्व देनेके लिए प्रस्तुत नहीं हैं, और जो रमणीको केवल काम-दृष्टिसे देखते हैं, वे मेरी पूर्वोक्त बातको नहीं समझ सकेंगे। और जो लोग समझते हैं, पति-पत्नीका यही सम्बन्ध है कि स्वामीके चरित्रहीन कुचाली होनेपर भी स्त्री उसके चरणोंमें पुष्पांजलि देगी, और स्त्री अगर एक वार भ्रष्ट हो गई तो स्वामी उसके सिरपर कुठाराघात करेगा, उन्हें समझानेके लिए भी मेरा यह प्रयास नहीं है।

मैं स्वीकार करता हूँ कि स्त्रीजाति दुर्बल, असहाय और कोमलप्रकृति होती है; उसे पुरुषके अधीन होकर रहना ही पड़ेगा। मैं यह भी जानता हूँ कि पुरुषकी चरित्रशुद्धिकी अपेक्षा स्त्रीका सतीत्व

* जो स्वयं ग्रस्त है, उसीका अयश फैलाना।

दस गुना अधिक आवश्यक है । किन्तु फिर भी नारीका एक स्वतन्त्र अस्तित्व है । कमसे कम भारतवर्षमें---जहाँ अनेक नारियोंने ज्योतिषके ग्रंथ लिखे हैं, राज्यशासन किया है, और युद्ध किये हैं—हम नारी-जातिको घरकी अन्य सामग्रीके बीच नहीं डाल सकते, उसे उपभोग्य वस्तुमात्र नहीं समझ सकते । बल्कि मैं तो नारीको अनेक बातोंमें पुरुषकी अपेक्षा श्रेष्ठ समझता हूँ । शारीरिक बल या मानसिक उद्यममें नारी अवश्य पुरुषकी अपेक्षा हीन होती है, लेकिन सेवा और सहन-शीलतामें, स्नेह और स्वार्थत्यागमें, धर्मके अनुराग और चरित्रके माहात्म्यमें नारी पुरुषकी अपेक्षा सर्वथा श्रेष्ठ है । नारीके दुर्बल होनेके कारण ही पुरुष उसके ऊपर सदा अत्याचार-अविचार किया करते हैं ।

सभ्यताके अभ्युदयके साथ साथ पुरुषजाति स्त्रीजातिका अधिक सम्मान करने लगी है । क्योंकि सभ्यताकी वृद्धिके साथ साथ पुरुषोंमें क्रमशः महती प्रवृत्तियोंका—ऊँचे विचारोंका—जन्म होता जा रहा है । जब अपनी मुट्ठीमें आये हुए शत्रुके प्रति भी सभ्यजाति सदय व्यवहार करती है, तब जो जीवनसंगिनी, घरकी ज्योति और विपत्तिमें सहायता पहुँचा-नेवाली अर्धांगिनी—सहधर्मिणी है, वह अपनी मुट्ठीमें है, केवल इसी कारण क्या सभ्य पुरुष उसके साथ दयापूर्ण व्यवहार नहीं करेगा ? अनेक मनीषी मनुष्योंके मतमें, नारीजातिके प्रति सम्मान दिखला-नेकी मात्रासे ही किसी जातिकी जातीय सभ्यताकी श्रेष्ठता मापी जा सकती है । जिस समय यह आर्यजाति जातीय उन्नतिकी पराकाष्ठाको पहुँच गई थी, उस समय इस जातिके मर्द भी स्त्रियोंके प्रति गहरा सम्मान दिखलाते थे । इस बातके अनेकानेक निदर्शन हमें इस भवभूतिके नाटकमें ही जगह जगह मिलते हैं । रामचंद्र 'देवी' कह कर सीताको संबोधन करते हैं, और जब सीता कोई अभिलाषा प्रकट करती है, तब राम

कहते हैं—"आज्ञापय।" (आज्ञा करो।) इससे आगे सभ्य अँगरेज़ लोग भी नहीं जा सके, और न जा ही सकते हैं। यह सम्मानकी पराकाष्ठा है। अब उसी आर्य जातिके किसी वंशधरके मनमें अगर ऐसी धारणा हो कि पुरुष चाहे स्त्रीजातिके प्रति स्वामीके कर्तव्यका पालन करे और चाहे न करे, कुछ हानि नहीं, दोनों तरह काम चल सकता है, तो मैं अवश्य कहूँगा—आज इस जातिका बहुत ही बड़ा दुर्दिन है।

रामकी सेनाके साथ लवका युद्ध भवभूतिने पद्मपुराणके पाताल-खंडसे लिया है। रंगमञ्चमें युद्धका दृश्य नहीं दिखाया जाता, इसी कारण भवभूतिने विद्याधरोंकी बातचीतमें ही उस युद्धका विस्तृत वर्णन कर दिया है। भवभूतिने इस नाटकमें कवित्वके हिसाबसे, कवित्वशक्ति दिखानेके लिए, इस युद्धकी अवतारणा की है। यद्यपि नाटकत्वके हिसाबसे इस नाटकमें युद्धकी अवतारणाका कोई प्रयोजन नहीं था; किन्तु कवित्वके हिसाबसे यह युद्धवर्णन अमूल्य है। आगेके परिच्छेदमें उसका सौन्दर्य दिखाया जायगा।

हमें इन दोनों नाटकोंके कथाभागमें विलक्षण सादृश्य देख पड़ता है। पहले तो दोनों ही नाटकोंमें राजाके प्रणयकी कथा है। दूसरे, दोनों ही नाटकोंकी प्रणयिनियाँ या नायिकायें अमानुषी-संभवा हैं—अर्थात् दोनोंकी मातायें मनुष्यजातिकी नहीं हैं। इसके बाद दोनों ही नाटकोंके नायकोंने नायिकाओंको त्याग दिया है। दोनों ही नाटकोंमें त्यागी हुई नायिकायें दैवशक्तिके बलसे अपने मातृालयोंमें पहुँचकर रही हैं—शकुन्तला हेमकूट पर्वतपर और सीता रसातलमें। दोनों ही नाटकोंमें वियोगके बाद नायिकाओंके पुत्र हुए, और वे पुत्र ही मिलनके कारण हुए, और अन्तको नायक-नायिका दोनोंका मिलन हो गया।

किन्तु दोनों नाटकोंमें सादृश्यकी अपेक्षा अलगाव ही अधिक है। शकुन्तला नाटकमें हम देखते हैं कि एक कामुक राजा शकुन्तलाका रूप देखकर पागल सा हो गया है; उधर उत्तररामचरितमें एक कर्तव्यपरायण राजा सीताके गुणोंपर मुग्ध है। एक नाटकका विषय है, प्रणयका प्रथम उद्दाम उच्छ्वास, और दूसरे नाटकका विषय है, बहुत दिनों तक साथ रहनेसे उत्पन्न हुए प्रणयका गंभीर निर्भर-भाव। एकमें राजा कुछ दिनोंमें ही नायिकाको भूल जाते हैं, और दूसरेमें वियोगकी अवस्थामें नायकका हृदय सीताकी स्मृतिसे परिपूर्ण देख पड़ता है। एक राजाके बहुतसी रानियाँ हैं, और दूसरा राजा स्त्रीको वनवास देकर भी अन्य पत्नीको नहीं ग्रहण करता।

नायिकाओंके सम्बन्धमें भी उक्त दोनोंमें बहुत कुछ असादृश्य है। पहले अवस्थाको लीजिए—शकुन्तला युवती है, सीता प्रौढा है। फिर शकुन्तला तापसी है, सीता रानी है। शकुन्तला उद्दाम-प्रवृत्तिसे चंचल है, राजाको देखते ही रीझ गई, कण्वमुनिकी अनुमतिके लिए अपेक्षा करनेकी देर भी उसे असह्य हो गई; किन्तु सीता धीर, अटल विश्वास रखनेवाली और रामकी भुजाओंका आश्रय पाकर ही अपनेको कृतार्थ समझती है। शकुन्तला गर्विता है, सीता भय-विह्वला है। वास्तवमें शकुन्तला तपस्विनी होकर भी गृहस्थ है, और सीता गृहस्थ होकर भी संन्यासिनी है।

संक्षेपमें यह कहा जा सकता है कि अभिज्ञान-शकुन्तलके नायक-नायिका यथार्थमें कामुक और कामुकी हैं और उत्तरचरितके नायक-नायिका देव-देवी हैं।

दूसरा परिच्छेद।

चरित्र-चित्रण।

१–दुष्यन्त और राम।

पहलेके परिच्छेदमें कह चुके हैं कि महाभारतके दुष्यन्त एक भीरु, लंपट और मिथ्यावादी राजा हैं। उनके राजकीय गुणोंमें कोई विशेषता नहीं है। उनमें जो गुण थे, वे प्रायः सभी राजाओंमें हुआ करते थे। वे शिकारके शौकीन, कामसहिष्णु, और रणशास्त्रविशारद वीर थे। किन्तु उन्होंने रघुकी तरह दिग्विजय नहीं किया, अर्जुनकी तरह समस्त कौरव-सेनाको परास्त भी नहीं किया। दुष्यन्तने भीष्मकी सी कोई प्रतिज्ञा नहीं की। वे युधिष्ठिरकी तरह सत्यवादी नहीं थे, कर्णकी तरह दानी नहीं थे, और भीमकी तरह बली नहीं थे। उनमें लक्ष्मणका सा स्वार्थत्याग और विदुरका सा तेज नहीं था। अर्थात् दुष्यन्त एक अति साधारण राजा थे।

कालिदासने अपने इस नाटकमें दुष्यन्तको बहुत ऊपर उठाया है, बहुत बचाया है; तो भी वास्तवमें वे एक निर्दोष-चरित्र नहीं बना सके। राजा दुष्यन्तका शरीर सुगठित पेशियोंवाला और विशाल अवश्य है, और वे शिकारके शौकीन भी अवश्य हैं—

> "अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरकर्मा,
> रविकिरणसहिष्णुः स्वेदलेशैरभिन्नः।
> अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं,
> गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति॥"

ठि-4

[राजा दुष्यन्त करारी धूपको सहते हुए लगातार धनुषकी डोरी खींचकर प्राणिहिंसारूप क्रूर कर्म कर रहे हैं। करारी धूपमें दौड़ने पर भी उनके शरीरमें पसीनेकी बूँदें नहीं निकली हैं। इन सब कारणोंसे उनका शरीर क्षीण होनेपर भी अत्यन्त विस्तृत, अर्थात् लंबा चौड़ा, होनेके कारण क्षीण नहीं प्रतीत होता—उसकी कृशता अलक्ष्य है। वे पर्वतपर विचरनेवाले हाथीकी तरह महासार-युक्त बलिष्ठ जान पड़ते हैं।]

किन्तु इससे क्या प्रमाणित होता है ? इससे इतना ही प्रमाणित होता है कि वे विलासमें मग्न होकर दिनरात अन्तःपुरमें नहीं रहते—श्रम कर सकते हैं और कष्ट सह सकते हैं। किन्तु यह दोषहीनता गुण नहीं है। इस श्रम सहनेके स्वभावसे उन्होंने कोई महत् कार्य नहीं किया। शिकार करते हैं, सो भी बाघ या भालूका नहीं, भागते हुए मृगोंका। और उस मृगयाको मनु आदि शास्त्रकारोंने एक व्यसन ही बतलाया है, जिसके लिए राजाके आगे सेनापति इस प्रकार वकालत करते हैं—

" मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्साहयोग्यं वपुः,
सत्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिद्ध्यन्ति लक्ष्ये चले,
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः॥ "

[शिकार करनेसे मेदा छँट जाती है, जिससे उदर कृश रहता है, तोंद नहीं बढ़ती। उसीसे शरीर हलका और मन उत्साहसे परिपूर्ण रहता है। शिकारके समय प्राणियोंके मनमें भय और क्रोधका संचार होनेपर उनके चित्तमें कैसा विकार उत्पन्न होता है, इसका अनुभव प्राप्त होता है। फिर शिकारमें चल-लक्ष्य-भेदका अभ्यास होता है,

जो धनुर्धरोंके लिए एक उत्कर्षकी बात समझी जाती है। अतएव (मनु आदि शास्त्रकारोंने) मृगयाको जो व्यसन कहा है सो मिथ्या ही प्रतीत होता है। ऐसा मनोविनोद और किसी काममें नहीं होता।]

किन्तु यह बहुत ही क्षीण युक्ति है। मृगयामें प्राणियोंके चित्त-विकारके संबंधमें जैसा ज्ञान होता है, उसका कोई विशेष मूल्य नहीं है। डार्विन (Darwin) या जान लबक (Lubbuck) ने मृगयाके द्वारा इतर प्राणियोंके चित्तविकार आदिका ज्ञान नहीं प्राप्त किया—स्वयं पर्यवेक्षणके द्वारा उन्हें उक्त बातोंका ज्ञान प्राप्त हुआ था। मृगयामें मनुष्यकी मेदा छँटनेसे उदर कृश अवश्य होता है, किन्तु प्राणियोंकी हत्या न करके भी अनेक प्रकारके अन्य व्यायामों (कसरतों) के द्वारा वही बात हो सकती है, और पृथ्वीपर मनोविनोदके अन्य उपायोंका भी अभाव नहीं है। वास्तवमें सेनापति अगर ये युक्तियाँ न पेश करता, तो भी नाटकके सौन्दर्यकी कुछ हानि न होती।

इसके बाद कालिदासके दुष्यन्तको राक्षसोंके अत्याचारोंका निवारण करनेके लिए कण्वमुनिके आश्रममें कुछ दिन रहनेका आमन्त्रण अवश्य मिलता है; लेकिन ठीक इसीलिए उन्होंने उस आश्रममें रहना स्वीकार किया हो, सो बात नहीं है। उनका असल मतलब और प्रकारका था। विदूषकने ठीक ही कहा था—"इस समय यह आपके अनुकूल गल-हस्त है।" (**एसा दाणिं भअदो अनुऊलो गलहत्थो।**)

उसके बाद, राजा बीच बीचमें हुंकार छोड़ते हैं सही, जैसे तृतीय अंकके अन्तमें—"**भो भोस्तपस्विनः मा भैष्ट मा भैष्ट अयमहमागत एव**" [हे तपस्विगण! डरो नहीं, डरो नहीं! यह लो, मैं आ पहुँचा।] किन्तु वह शौर्य शरदृतुके मेघके समान केवल गरजता है, बरसता नहीं। पुस्तक भरमें उनकी किसी वीरताका उल्लेख नहीं है, केवल

हुंकार मात्र सुन पड़ती है! केवल सातवें अंकमें एक बार देखते है कि वे दानव-दमन करके स्वर्गसे लौट रहे हैं। किन्तु मातलिने उसका जैसा वर्णन किया है, वह दुष्यन्तके लिए कोई बड़े गौरवकी बात नहीं है। मातलि कहता है—

"सख्युस्ते स किल शतक्रतोरवध्य—
स्तस्य त्वं रणशिरसि स्मृतो निहन्ता।
उच्छेत्तुं प्रभवति यन्नसप्तसाप्ति-
स्तन्नैशं तिमिरमपाकरोति चन्द्रः॥"

[वे दानव तुम्हारे सखा इन्द्रके लिए अवध्य हैं; युद्धक्षेत्रमें तुम्हारे ही हाथसे उनकी मौत बदी है। जिस रात्रिके अन्धकारको सूर्यनारायण नहीं दूर कर सकते, उसे चन्द्रमा हटाते हैं।]

यह बात नहीं थी कि देवराज इन्द्र उन दानवोंका वध नहीं कर सकते थे—नहीं, वे देवराजके अवध्य थे—जैसे गोजाति हिन्दुओंके लिए अवध्य है। और "देवराजका पराक्रम सूर्यके समान है, और दुष्यन्तका विक्रम चन्द्रमाके सदृश है," ऐसे स्तोक वाक्यको मातलि अगर मुँहसे न निकालता ऊह्य ही रखता, तो शायद राजा दुष्यन्त और-अधिक सन्तुष्ट होते। यह सच है कि इन्द्रने स्वर्गकी प्रकाश्यसभामें दुष्यन्तके प्रति बहुत सम्मान दिखाया था, किन्तु वह इन्द्रका सौजन्य मात्र था।

दुष्यन्तमें और एक गुण यह है कि वे धर्मशास्त्रों और ब्राह्मणोंके वचनोंपर आस्था रखते थे। किन्तु वैसी आस्था भारतके सभी लोगोंमें थी। उसमें विशेष योग्यताकी कोई बात नहीं है। बल्कि हम देखते हैं, कि दुष्यन्तने महर्षिके आश्रममें अतिथि होकर गुप्तरूपसे जो शकुन्तलाके साथ विवाह किया, सो ऋषियोंके साथ एक भारी विश्वासघात-

कताका काम किया, और एक महर्षिके पवित्र आश्रमको कलुषित कर डाला। दुर्वासाको उचित था कि वे दुष्यन्तको शाप देते। राजाके द्वारा प्रतारित शकुन्तलाको वे क्षमा भी कर सकते थे।

उसके बाद, दुष्यन्तने अपनी माताकी आज्ञाका पालन अवश्य किया, लेकिन अपने सखा माधव्यको भेजकर किया। "**सखे माधव्य, त्वमप्यम्बाभिः पुत्र इव गृहीतः**" (मित्र माधव्य, तुमको भी माताजीने पुत्ररूपसे स्वीकार किया है, अर्थात् तुमको भी वे अपना पुत्र ही मानती हैं) यह कहकर उन्होंने उस अप्रीतिकर कार्यका भार देकर माधव्यको उधर भेज दिया, और आप खुद चले "**तपोवनरक्षार्थम्**" (तपोवनकी रक्षाके लिए)। नहीं—यह मिथ्या बहाना है। वे चले शकुन्तलाके साथ प्रेमसंभाषण करनेके लिए। इस द्वितीय अंकमें ही हमें राजाकी सत्यवादिताका परिचय मिल जाता है। उन्होंने अपने वयस्यको समझाया है—

> "**क वयं क परोक्षमन्मथो मृगशावैः सह वर्द्धितो जनः।**
> **परिहासविजल्पितं सखे परमार्थेन न गृह्यतां वचः॥**"

[कहाँ सब कलाओंसे अभिज्ञ नागरिक पुरुष हम लोग, और कहाँ वे लोग, जिनके हृदयमें अभी कामके भावका आविर्भाव भी नहीं हुआ, और जो मृगोंके बच्चोंके साथ बढ़े और पले हैं? अतएव मित्र, मैंने अभी जो तुमसे कहा, सो सब दिल्लगी थी। उसे तुम सच न मान लेना।]

राजाके मनमें अभीसे रानियोंकी डाह और भर्त्सना (झिड़कियों) का भय उत्पन्न हो गया है। कालिदास लाख ढकें, हजार रंग चढ़ावें, पर मनका पाप छुप नहीं सकता। कालिदास महाकवि ठहरे। इस मामलेसे मनकी अवस्था जो होगी, वह उन्हें दिखानी ही पड़ेगी। जो कुछ अवश्यंभावी है, वह उनकी लेखनीके मुखसे अवश्य ही निकलेगा।

हम प्रथम अंकमें देखते हैं, राजा अपना यथार्थ परिचय न दे कर शकुन्तलाके सामने झूठ बोल रहे हैं। उन्होंने चोरकी तरह छिपकर सब सुन लिया, और जो कुछ बाकी रह गया, वह भी प्रश्न करके जान लिया! यहाँ पर राजाके छिपकर सुननेमें और मिथ्या परिचय देनेमें कौनसा अच्छा उद्देश्य रह सकता है? लोग किसी विशेष प्रयो॰ जनके बिना प्रवञ्चना नहीं करते। राजाका उद्देश्य शायद शकुन्तलाको थोड़ासा जाँचना था। मैं महाराज हूँ, यह बात एकाएक कह देनेसे शायद शकुन्तला अच्छी तरह जी खोल कर बातचीत नहीं करेगी। अतएव विवाहके पहले कुछ दिल्लगी करनी चाहिए—राजाका शायद यही उद्देश्य था।

कालिदासके दुष्यन्तके चरित्रमें हम यह एक प्रधान गुण देख पाते हैं कि वे धर्मभीरु हैं। यहाँतक कि जो उनके प्रधान कलंककी बात–शकुन्तलाका प्रत्याख्यान–है, उसका भी कारण कालिदासने धर्मभय दिखलाया है। पञ्चम अंकमें, जब उन्होंने शकुन्तलाको अस्वीकार कर दिया है, उस समय वे कहते हैं—

"भोस्तपस्विनः, चिन्तयन्नपि न खलु स्वीकरणमत्र भवत्याः स्मरामि, तत्कथमिमामभिव्यक्तसत्त्वलक्षणामात्मानमक्षत्रियं मन्यमानः प्रतिपत्स्ये।"

[हे तपस्वियो, बहुत कुछ विचार कर मैंने देखा, मुझे याद नहीं पड़ता कि मैंने कभी इसको स्वीकार किया है। तब मैं किस तरह इस गर्भलक्षणवती कामिनीको ग्रहण करके अपनेको अक्षत्रिय बनाऊँ? अर्थात् यह क्षत्रियोंका काम नहीं है कि ऐसी वे: अपरिचित गर्भवती पराई स्त्रीको अपने घरमें रख लें।]

किन्तु इससे उनके चरित्रका माहात्म्य कुछ विशेष नहीं बढ़ता। हर एक भले आदमीका आचरण ऐसा ही होता है। सुन्दरी रमणी

देखते ही जिसके कामका उद्रेक होता है, और कामका उद्रेक होनेपर भी जो व्यक्ति उसे दबा नहीं सकता, वह मनुष्य कहलाने योग्य नहीं, पशु है। कालिदासके ही मतसे, रघुवंशके हर एक राजाका मन पराई स्त्रीकी ओरसे विमुख था—"मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्तिः।" पर इस तरह परस्त्रीविमुख होनेमें अहंकार करनेकी कोई बात नहीं है। —बायरन (Byron) के डान जुअन (Donguon) संसारमें बिरले ही हैं। प्रायः प्रत्येक सभ्य व्यक्ति ही पराई स्त्रीको माता जानता है। ऐसा न होना ही निंदाकी बात है, पर ऐसा होनेमें बड़ाईका विषय विशेष कुछ नहीं है।

कालिदासने अपने दुष्यन्तको कुछ एक मनोहर सद्गुणोंसे भूषित किया है।

पहला गुण तो यह है कि कालिदासने दुष्यन्तको एक श्रेष्ठ चित्रकारके रूपमें अंकित किया है। छठे अंकमें राजा अपने हाथके लिखे हुए शकुन्तलाके चित्रको देखकर, उत्कृष्ट चित्रका लक्षण क्या है, यह अपने मित्र विदूषकसे यों कहते हैं—

> **"अस्यास्तुङ्गमिव स्तनद्वयमिदं निम्नेव नाभिः स्थिता,**
> **दृश्यन्ते विषमोन्नताश्च वलयो भित्तौसमायामपि।**
> **अङ्गे च प्रतिभाति मार्दवमिदं स्निग्धप्रभावाच्चिरं,**
> **प्रेम्णा मन्मुखमीषदीक्षत इव स्मेरा च वक्तीव माम्॥"**

[चित्रकी तह समतल होनेपर भी इस शकुन्तलाके दोनों स्तन उठे हुएसे, नाभि गहरीसी और वहाँकी त्रिबली विषम और उभरी हुई सी देख पड़ती है। और तैलके रोगनके रंगकी शक्तिसे अंगोंमें कोम लताका भाव स्थायी सा भासित होता है। यह जैसे प्रेमपूर्वक मेरे

मुखकी ओर कटाक्ष-दृष्टिसे देख रही है, और मुसका कर मानों मुझसे कुछ कहना चाहती है।]

यह चित्र देखकर मिश्रकेशी अप्सराको—जो अपनी मायासे अदृश्य होकर राजाकी सब दशा देख रही है—चित्र-लिखित शकुन्तलामें असली शकुन्तलाका भ्रम हो गया। अन्तको चित्र देखते-देखते स्वयं चित्रकारको, राजाको, वह भ्रम हो गया और वे उन्मत्तसे हो उठे। वे शकुन्तलामुखकमलमधुपानके अभिलाषी चित्रलिखित भ्रमरको देखकर कहते हैं—

"अयि भोः कुसुमलताप्रियातिथे, किमत्र परिपतनखेदमनुभवसि?

एषा कुसुमनिषण्णा तृषिताऽपि सती भवन्तमनुरक्ता।
प्रतिपालयति मधुकरी न खलु मधु त्वां विना पिबति॥"

[अजी ओ पुष्पलताके प्यारे अतिथि! यहाँ उड़कर बैठनेके कष्टका अनुभव क्यों करते हो?—इस कुसुमपर बैठी हुई मधुकरी तुमपर अनुरक्त होनेके कारण, प्यासी होनेपर भी, तुम्हारी राह देख रही है; तुम्हारे बिना मधुपान नहीं करती।]

इतनेपर भी भ्रमरके न उड़नेसे राजाको क्रोध हो आया। वे कहते हैं—

"भो न मे शासने तिष्ठसि श्रूयतां तर्हि संप्रति हि—

अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयं,
पीतं मया सदयमेव रतोत्सवेषु।
बिम्बाधरं दशसि चेद्भ्रमर प्रियाया,
त्वां कारयामि कमलोदरबन्धनस्थम्॥

[अरे तू मेरी आज्ञा नहीं मानता? तो अब सुन हे भ्रमर, मैंने सुरतके समय जिस अमलिन तरुपल्लवके समान रंगीन और मनको

लुभानेवाले प्रियाके बिंबतुल्य अधरको सदयभावसे पिया—चूसा—है, उसमें अगर तू निष्ठुररूपसे दंशन करेगा, तो मैं तुझे यह दण्ड दूँगा कि कमलके भीतर क़ैद कर दूँगा ।]

विदूषकने देखा, राजाके चित्तको विभ्रम हो गया है । इसीसे डर कर उसने राजाको समझाया—"**भो चित्तं क्खु एदं**" (अर्थात्—महाराज, यह तो चित्र है ।)

तब राजाका मोह दूर हुआ । वे बोले—"कथं चित्रं !" (क्या, यह चित्र है ?)

जिसमें चित्र अंकित करनेकी ऐसी निपुणता है, वह अवश्य ही कोई साधारण चित्रकार नहीं है ।

पञ्चम अंकमें, एक अपूर्व मधुर श्लोकमें, राजाके चरित्रका और एक पहलू देख पड़ता है । शकुन्तलाके साथ ब्याह करनेके बाद नगरमें आकर राजा उसको भूल गये हैं । वे राजसभामें बैठे बैठे नेपथ्यमें संगीत सुन रहे हैं और सोचते हैं—

"**रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्,**
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं,
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥"

[ये सब जीव सुखी रहने पर भी मनोहर वस्तु देख कर और मधुर शब्द सुनकर जो उत्कण्ठितचित्त होते हैं, सो वे निश्चय ही अपने मनमें विस्मृत पूर्वजन्मके स्थिर भावयुक्त सुहृद्भावको स्मरण करते हैं ।]

राजाको, जैसे कुछ मनमें आता है, मगर अच्छी तरह स्मरण नहीं आता । वे अगाध सुखमें एक अगाध विषादका अनुभव करते हैं ।

मगर उसका अनुभव क्यों करते हैं, यह कुछ समझमें नहीं आता। इस एक श्लोकमें शकुन्तलाके प्रति उनका ढका हुआ प्रेम और उनका संगीत तत्त्वज्ञान सम्मिलित रूपमें देख पड़ता है। इस प्रेमने दुर्वासाके अभिशापको भी ढक दिया है। यह संगीत-तत्त्वज्ञान कविके कवित्वसे भी ऊपर चला गया है। चिन्ता और अनुभूति, विरह और मिलन, स्थिरता और उल्लास यहाँपर आकर सम्मिलित हो गये हैं। मानों लहराते हुए नील सागरके ऊपर प्रातःकालकी किरणें आकर पड़ी हैं, घने काले मेघके ऊपर पूर्णचन्द्र हँस रहा है, ललित चाँदनीके ऊपर वनश्रीकी परछाहीं आकर पड़ी है। शेक्सपियरने एक जगह पर कहा है—

" If music be the food of love, play on;
Give me excess of it, that surfeiting
The appetite may sicken and so die
That strain again; it had a dying fall
O it come per my ear like the sweet south,
That breathes upon a bank of violets
Stealing and giving odour."*

---

* अर्थात्—

यदि सङ्गीत प्रेम-तृष्णाका कर सकता अवसान,
तो उसकी ही चाह मुझे है, बन्द न हो यह तान।
यदि होगा आधिक्य, प्रेमकी मिट जावेगी भूख,
और यहीं सङ्गीत सुधा-रस भी जावेगा सूख।
आया यह कर्णोंपर उसका अन्तिम स्वर म्रियमाण,
मलयानिलने नवकुसुमोंका सौरभ किया प्रदान॥"

यह अत्यन्त सुन्दर है! लेकिन यह भी इस श्लोकके आगे कुछ नहीं जँचता। इसमें एक साथ विज्ञान और कवित्व नहीं है। इसमें एक साथ पूर्व जन्म और यह जन्म, दोनों नहीं हैं। एक साथ अप्सराका नृत्य और मर्त्यकी वेदना, प्रभातकी आशा और सन्ध्याका विषाद, माताका रोदन और शिशुका हास्य इसमें नहीं है।—ऊपर लिखा हुआ श्लोक अतुल है।

छठे अंकमें, दुष्यन्तमें, हम एक ऐसा सद्गुण देख पाते हैं, जो राजाका वास्तविक गुण है। वे खुद राज-काजकी देख-रेख रखते हैं। इसी अंकके विष्कंभकमें राजाकी राज्यशासन प्रथाका एक नमूना देखनेको मिलता है।

नगरपाल (कोतवाल) का साला और दो पुलिसके सिपाही एक धीवरको बाँधकर लाते हैं। धीवरने वह अँगूठी जिसपर राजाका नाम खुदा हुआ है, कहाँसे पाई? धीवर समझाता है कि मैंने यह अँगूठी एक रोहित मछलीके पेटमें पाई है। नगरपालका साला अँगूठी सूँघकर कहता है—"हाँ इसमें मछलीकी गंध अवश्य आती है।" इतना कहकर वह अँगूठी राजाके पास ले जाता है। इसी बीचमें धीवरको मारनेके लिए दोनों सिपाहियोंके हाथोंमें खुजली उठती है। (देख पड़ता है, यह रोग सिपाहियोंको सदासे होता आया है।) इसके बाद नगरपालका साला फिर प्रवेश करके कहता है—"**निर्गतं पदं।**" यह सुनते ही धीवरने समझा, गया—"**हा हतोऽस्मि**" (हाय! मैं मारा गया।) इसके बाद नगरपालका साला धीवरको छोड़नेके लिए कहता है और राजाका दिया हुआ पारितोषिक उसे देता है। सिपाही कहता है—"यह साला यमराजके घरसे लौट आया।" यह कहकर वह उसे अनिच्छापूर्वक छोड़ देता है। धीवरको सूलीके दण्डसे छुट-

कारा पाते देखकर सिपाहियोंको बड़ा क्षोभ हुआ था। यह बात इसके बाद ही देख पड़ती है। धीवरने जब उस पारितोषिकमेंसे आधी रकम दोनों सिपाहियोंको शराब पीनेके लिए दी, तब उनमें परस्पर मित्रता हो गई।

देख पड़ता है कि उस समय भी पुलीसका प्रभाव आजकलसे कुछ कम नहीं था। कैदीको, या अपराधीको, मारनेके लिए उस समय भी पुलिसके हाथोंमें खुजली उठा करती थी। मनुष्यका स्वभाव ही तो है! नीचके हाथमें शक्ति, बालकके हाथमें तरवार और घातकके हाथमें बल होनेसे एकसा ही फल होता है। उसके बाद यह भी देख पड़ता है कि उस समयकी पुलीसके हाथ केवल मारनेके लिए ही नहीं खुजलाया करते थे, रिश्वत लेनेमें भी खूब अभ्यस्त थे। किन्तु साथ ही हम यह भी देखते हैं कि ये दुर्दान्त पशुतुल्य मनुष्य भी दुष्यन्तके राज्यमें, दूरसे भी, अप्रिय राजनिर्देशकी पालना करनेमें तनिक भी टालटूल या लापर्वाही नहीं करते। राजाका ऐसा ही दृढ़ और कठोर शासन है।

इस नाटकमें राजाकी और एक कोमलता दिखती है—वे रानियोंको अच्छी तरह डरते हैं। वे शकुन्तलाका चित्र देख रहे थे, इसी समय रानी आपड़ीं; राजाने भयके मारे चित्रको छिपा दिया। इसी तरह और एक जगह रानियोंके भयसे वे वयस्य विदूषकसे मिथ्या बोलते हैं, कहते हैं कि शकुन्तला पर आसक्त होनेका सब वृत्तान्त अमूलक है। वे विरहमें रानियोंके सामने सहसा असावधानताके मारे शकुन्तलाका नाम लेते और वैसे ही लज्जित हो उठते हैं, सिर झुका लेते हैं। नहीं मालूम, इसे लोग गुण कहेंगे, या दोष। किसी समय यह गुण भी हो सकता है, और किसी समय दोष भी।

दुष्यन्तकी संगीतकलाकी अभिज्ञता और चित्र खींचनेकी निपुणता, दोनों ही कलाविद्यामें पारदर्शी होना भर है, चरित्रका गुण नहीं है। उनके चरित्रमें ऐसा कोई विशेष-गुण-समूह नहीं है, जिससे वे सर्वगुणसंपन्न कहे जा सकें। कालिदास महाभारतके दुष्यन्त-चरित्रसे ऊपर उठे अवश्य हैं, लेकिन तो भी उन्होंने दुष्यन्त-चरित्रको एक आदर्श चरित्र बनानेका प्रयास नहीं किया, और अगर प्रयास किया भी हो, तो उसमें वे कृतकार्य नहीं हुए। दुष्यन्तके सदृश अतिथिका आना किसीके घरमें भी वांछनीय नहीं हो सकता। उनका ऐसा वीर किसी देशमें वरणीय नहीं होगा। उनके ऐसे वरको कोई भी स्त्री शिवसे नहीं माँगेगी। उनकासा राजा पानेके लिए किसी भी देशकी प्रजा ईश्वरके आगे 'धन्ना' नहीं देगी।

वे ही दुष्यन्त इस जगत्प्रसिद्ध नाटकके नायक हैं। पाठक कहेंगे, तो फिर क्या हुआ ? इस दुष्यन्त-चरित्रमें अगर कोई विशेषता नहीं है, तो फिर यह नाटक इतना जगत्प्रसिद्ध क्यों हुआ ? इसका उत्तर यह है कि दुष्यन्तका चरित्र ऐसा साधारण होनेपर भी कालिदासने उसमें अनेक खूबियाँ पैदा कर दी हैं। वे खूबियाँ आगे दिखाई जायँगी।

इस नाटकके असलमें तीन भाग हैं। प्रथम भाग तो पहलेके तीनों अंक हैं, जिनमें प्रेमका चित्र है। दूसरे भागमें चौथे और पाँचवें अंक हैं, जिनमें वियोगका वर्णन है। तीसरा भाग शेष दो अंकोंमें है, जिसमें मिलनका वर्णन है। प्रथम भागमें राजाका पतन, द्वितीय भागमें उठनेकी चेष्टा, और तृतीय भागमें उत्थान दिखाया गया है।

दुष्यन्तके चरित्रका महत्त्व इसी उत्थान और पतनमें है। शिकारके लिए घूमते-घामते आश्रममें प्रवेश करनेके बाद शकुन्तलाको देख-

कर जहाँ तक संभव था, उनका पतन हुआ। छिपकर सुनना, अपना मिथ्या परिचय देना, देखकर ही अपने उपभोगके योग्य नारी समझ लेना, माताकी आज्ञापर ध्यान न देना, विदूषकको छल करके राजधानीमें भेजना और झूठ बोलना, विवाहके बाद कण्वमुनिके आनेके पहले ही भाग जाना आदि जहाँतक गर्हित काम करना संभव था, वहाँतक उन्होंने किये। उस पापाचारमें केवल एक पुण्यकी रेखा उनका गान्धर्व विवाह कर लेना है। प्रथम तीन अंकमें केवल इसीने उनको अनन्त नरकमें जानेसे बचाया है। साथ ही आगे चलकर इसीसे उनका ऊपर उठना—सुधरना संभव हुआ है।

पञ्चम अंकमें हम देखते हैं कि राजधानीमें आकर राजा शकुन्तलाको भूल भी गये। यह उनके पतनकी चरम सीमा हो गई। इस अंकमें हम देखते हैं, राजा उस विस्मृति-सागरमें डूबकर गोते खाते हैं—एक बार ऊपर उठते हैं और फिर नीचे डूब जाते हैं। शकुन्तलाके सभामें आनेके पहले भी राजा संगीत सुनकर उत्कण्ठित अन्यमनस्क होते हैं। किन्तु उसी घड़ी फिर अतीत वर्तमानमें लुप्त हो जाता है। शकुन्तला सभामें आई, सामने खड़े हुए ऋषिगण शपथ खाते हैं कि शकुन्तला उनकी व्याही हुई स्त्री है। तब भी राजाके मनमें सन्देह होता है—"**किमत्र भवती मया परिणीतपूर्वा।**" (क्या मैं पहले तुम्हारे साथ व्याह कर चुका हूँ ?) सोचते हैं, मगर याद नहीं आता। शकुन्तलाका "**नातिपरिस्फुटशरीरलावण्य**" (अधखिला शरीर-लावण्य) अर्थात् सलोनापन—सौन्दर्य देखते हैं, उन्हें लोभ होता है। फिर उसी घड़ी सोचते हैं—"**भवत्यनिर्वर्ण्यं खलु परकलत्रम्**" (पराई स्त्रीका खयाल न करना चाहिए)। वे शकुन्तलाके खुले हुए मुखमण्डलको देखते हैं, और सोचते हैं—

" इदमुपनतमेवं रूपमक्लिष्टकान्ति-
प्रथमपरिगृहीतं स्यान्न वेत्यध्यवस्यन्।
भ्रमर इव निशान्ते कुन्दमन्तस्तुषारं
न खलु सपदि भोक्तुं नापि शक्नोमि मोक्तुम्॥ "

[इस स्वयं उपस्थित अमलिनकान्ति मनोहर रूपको मैं पहले कभी ग्रहण कर चुका हूँ या नहीं, इस बारेमें बहुत कुछ सोचकर भी मैं उसी तरह कुछ निश्चय नहीं कर सकता, जैसे जिसके भीतर तुषार है उस कुन्दपुष्पको भ्रमर सबेरेके समय न छोड़ सकता है, और न भोग कर सकता है।]

यह सब होनेपर भी राजा धर्मवाक्यसे एक पग भी नहीं विचलित होते। शकुन्तला जिस समय उनसे कहती है—

" पोरव जुत्तं नाम तुह पुरा अस्समपदे सभावुत्ताणहिअअं इमं जणं तधासमअपुव्वअं सम्भाविअ संपदं ईदिसे हि अक्खरेहिं पच्चाक्खादुं। "

[हे पौरव, पहले आश्रममें प्रणयप्रवणता दिखाकर तुमने नियमपूर्वक मेरा मन ग्रहण किया, किन्तु इस समय इन निष्ठुर अक्षरोंसे प्रत्याख्यान कर रहे हो ! यह क्या तुम्हारे योग्य काम है ?]

तब राजा कानपर हाथ धर कर कहते हैं—" शान्तं शान्तं—

" व्यपदेशमाविलयितुं समीहसे माञ्च नाम पातयितुम्।
कूलङ्कषेव सिन्धुः प्रसन्नमोघं तटतरुं च॥ "

[बस-बस। कूलको काटनेवाली नदी जैसे किनारेपरके सब वृक्षोंको भी गिराती है, और स्वच्छ जलको भी कलुषित कर देती है, वैसे ही तुम भी सदाचारको गंदा करके उसे गिराना चाहती हो।]

इसके बाद जब शकुन्तला अँगूठीकी निशानी दिखाना चाहती है, उस समय राजा उठनेकी चेष्टा करते और कहते हैं—" प्रथमः

कल्पः " (यह महान् विश्वास है।) उसके बाद जब शकुन्तला वह अभिज्ञानकी अँगूठी नहीं दिखा सकी, तब राजाने कहा—
" इत्थं तावत्प्रत्युत्पन्नमतित्वं स्त्रीणाम् " (स्त्रियोंमें जो प्रत्युत्पन्नमति होती है वह यही है।) इसके बाद अविश्वासके ऊपर अविश्वासकी लहर आकर राजाके हृदयमें हलचल डालने लगी। उनका यहाँतक अधः-पतन हो गया कि उन्होंने सारी स्त्रीजातिपर (जिसमें तापसी गौतमी भी एक थीं) तीव्र व्यंग्यके साथ आक्रमण किया। उसे उद्धृत कर-नेमें भी मुझे घृणा मालूम पड़ती है। इसके बाद शकुन्तलाने तीव्र भर्त्सना करके दुष्यन्तको झिड़का। शकुन्तलाका विभ्रमविवर्जित और रोष-रक्तिम मुख देखकर राजाको फिर सन्देह होता है।—

" न तिर्यगवलोकितं भवति चक्षुरालोहितं
वचोऽतिपरुषाक्षरं न च पदेषु संगच्छते।
हिमार्त इव वेपते सकल एव बिम्बाधरः
प्रकाशविनते भ्रुवौ युगपदेव भेदंगते॥ "

अपि च—

सन्दिग्धबुद्धिं मामधिकृत्य अकैतवमिवास्याः कोपः संभाव्यते। तथा ह्यनया—

" मय्येवमस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ
वृत्तं रहः प्रणयमप्रतिपद्यमाने।
भेदाद्भ्रुवोः कुटिलयोरतिलोहिताक्ष्याः
भग्नं शरासनमिवातिरुषा स्मरस्य॥ "

[यह तिरछी नज़रसे नहीं देखती, इसकी आँखें भी अत्यन्त लाल हो रही हैं, वाक्य भी अत्यन्त निष्ठुर हैं, जो कि मेरे पदके लिए सर्वथा अनुपयुक्त हैं। जैसे जाड़ा लग गया हो इस तरह इसका बिंबाफल सदृश सकल अधर काँप रहा है। दोनों भौंहें क्रोधके मारे ऊपर चढ़ गई हैं। और—विस्मरणके कारण मैं जो इस तरह अपनी चित्त-

वृत्तिको दारुण या रूखी बनाये हुए हूँ, और एकान्तमें होनेवाले प्रण-यका वृत्तान्त जो मुझे स्वीकार नहीं है, इसलिए इस लाल लोचनों-वाली ललनाने इस तरह भौंहें टेढ़ी कर ली हैं कि उन्हें देखकर जान पड़ता है, जैसे अत्यन्त क्रोध करके इसने कामदेवका धनुष्य तोड़ डाला और उसीके ये दोनों खण्ड हैं ।]

इसके बाद दुष्यन्त फिर विस्मृतिके सागरमें डूब जाते हैं।

इस अंकमें हम देखते हैं, राजा दुष्यन्त कामुक और मिथ्यावादी चाहे जो हों एक मनुष्य अवश्य हैं, उनमें मनुष्यताकी मात्रा यथेष्ट है। सामने असाधारण रूपवती युवती पत्नीभावकी भिक्षा माँग रही है । कभी कातरस्वरसे, और कभी तर्जन-गर्जन करके । वही रूप—जिसे देखकर राजाने कहा था, "**दूरीकृताः उद्यानलताः वनलताभिः**" वही रूप—जिसे देखकर राजाने खयाल किया था "**मानुषेषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य संभवः**" (मनुष्योंमें ऐसे रूपका होना कैसे संभव है ?), वही रूप—जिसे देखकर राजाने कामुकके सदृश काम कर डाला था, अतिथिधर्मका अपमान कर डाला था, ऋषिके शाप देनेके भयको भी कुछ नहीं समझा था। वह रूप अभीतक मलिन नहीं हुआ, अभीतक शरीरलावण्य अधखिला ही है । वही नारी आकर कहती है—"मैं तुम्हारी ब्याहता स्त्री हूँ, मुझे ग्रहण करो ।" किन्तु उस तरफ धर्मका भय है। ऋषि और ऋषिकन्या सामने खड़े हुए कभी राजासे शकुन्तलाको ग्रहण करनेके लिए अनुनय-विनय करते हैं, और कभी ब्रह्मकोप और अधर्मसे विनाशका भय दिखाते हैं। किन्तु राजा क्या कर सकते हैं ? उस तरफ धर्मका भारी भय जो है। एक तरफ अलौ-किक रूप है, ऋषिका क्रोध है, नारीका अनुनय-विनय है, और दूसरी तरफ धर्मका भय है।

वे डूबते हैं, किन्तु तैरनेमें उस्ताद आदमीकी तरह ऊपर उठनेका प्रयास करके भी ऊपर उठ नहीं सकते। एक दैवबल उनपर अपना प्रभाव डाले हुए है। वे उस कुहासेमेंसे, उस अस्पष्ट आवरणमेंसे, बाहर निकलनेकी चेष्टा करते हैं। जैसे पिंजड़ेमें पड़ा हुआ सिंह प्रबल विक्रमसे उस पिंजड़ेको तोड़नेके लिए उद्यत है, और उसी समय अपने प्रभुका गर्जन सुनकर अस्फुट करुण शब्द करके सिर झुका लेता है। दुष्यन्त मन्त्रमुग्ध नागकी तरह प्रश्वास लेते हुए फन फैलाकर ही धूलमें लोट जाते हैं। ऐसे दृश्यमें एक मोह है, सौन्दर्य है, उल्लास भी है। हाँ, दुष्यन्त एक मनुष्य है।

इस पञ्चम अंकमें हम एक और अपूर्व चीज़ देखते हैं। देखते हैं, अलक्ष्यमें एक युद्ध हो रहा है। एक तरफ क्षत्रियका तेज है, और एक तरफ ब्रह्मतेज है। दोनों ऋषिके शिष्योंने और ऋषिकन्या गौतमीने राजाको बड़ी कड़ी कड़ी झिड़कियाँ दीं, भर्त्सनामें कोई बात उठा नहीं रक्खी। दुष्यन्त क्रोध नहीं करते। किन्तु अपनी प्रतिज्ञासे पग भर भी स्खलित नहीं होते। साथ ही ब्राह्मणका अभिशाप भी सिर आँखोंसे स्वीकार करना पड़ता है, उसे भी त्याग नहीं सकते।—अपूर्व दृश्य है!

मैं शकुन्तला नाटकके इस पञ्चम अङ्कको जगत्‌भरके नाट्यसाहित्यमें अद्वितीय अद्भुत अपूर्व और अतुलनीय समझता हूँ। ग्रीक नाटकोंमें मैंने ऐसा नहीं पढ़ा, फ्रेंच नाटकोंमें नहीं पढ़ा, जर्मन नाटकोंमें ऐसा दृश्य नहीं देखा, अँगरेजीके नाटकोंमें भी नहीं देखा।

छठे अंकमें हम देखते हैं कि शकुन्तलाके साथ परिणयका वृत्तान्त विरही राजाको याद हो आया है। वसन्तोत्सव आ गया, तथापि राजभवन निरानन्द है, उत्सव नहीं मनाया गया। दो दासियाँ कामदेवकी पूजाके लिए आमके मुकुल (बौर) तोड़ती हैं। कंचुकीने

आकर मना किया। राजाने राज्यभरमें वसन्तोत्सव मनानेकी मनाही कर दी है।

उसके बाद कंचुकी उनके आगे राजाकी अवस्थाका वर्णन करता है—

"रम्यं द्वेष्टि यथा पुरा प्रकृतिभिर्न प्रत्यहं सेव्यते,
शय्योपान्तविवर्तनैर्विगमयत्युन्निद्र एव क्षपाः।
दाक्षिण्येन ददाति वाचमुचितामन्तःपुरेभ्यो यदा,
गोत्रेषु स्खलितस्तदा भवति च व्रीडावनम्रश्चिरम्॥"

VI
5

[इस समय राजा सभी रम्य वस्तुओंके प्रति विद्वेषका भाव प्रकट करते हैं, पहलेकी तरह अमात्य-प्रजा आदिके निकट बैठकर नित्य दरबार भी नहीं करते, रातभर जागकर पलँगपर करवटें बदलते हुए ही रातें बिताते हैं, दाक्षिण्यके कारण अपनी रानियोंको जब उचित उत्तर देना चाहते हैं तब उनकी जगह शकुन्तलाका नाम ले बैठते हैं, और फिर बहुत देर तक लज्जाके मारे सिर झुकाये रहते हैं।]

उसके बाद तापस वेषधारी राजा विदूषक और प्रतिहारीके साथ प्रवेश करते हैं। कंचुकी उनके रूपका वर्णन करता है—

"प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिर्वामप्रकोष्ठे श्लथं,
बिभ्रत्काञ्चनमेकमेव वलयं श्वासोपरक्ताधरः।
चिन्ताजागरणप्रताम्रनयनस्तेजोगुणैरात्मनः,
संस्कारोल्लिखितो महामणिरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते॥"

VI
6

[राजा विशेष शृंगारकी विधियोंको त्याग बैठे हैं, बाईं कलाईमें केवल एक सुवर्णका वलय पहने हुए हैं, बारम्बार गर्म साँसें लेते रहनेसे उनके अधर लाल पड़ गये हैं और चिन्ताके मारे रातरातभर जागते रहनेके कारण आँखें लाल हो रही हैं। ये 'सान' पर चढ़े

हुए महामणिकी तरह क्षीण होनेपर भी अपने तेजके गुणसे वैसे क्षीण नहीं देख पड़ते ।]

राजाने प्रतिहारीसे कहा—

"वेत्रवति, मद्वचनादमात्यपिशुनं ब्रूहि अद्य चिरप्रबोधान्न संभावितमस्माभिर्धर्मासनमध्यासितुं यत्प्रत्यवेक्षितमार्गेण पौरकार्यं तत्पत्रमारोप्य प्रस्थाप्यतामिति ।"

[वेत्रवति, मेरी आज्ञाके अनुसार अमात्य पिशुनसे जाकर कहो कि आज रातको बहुत देर तक जागनेके कारण मैं धर्मासन पर नहीं बैठ सकूँगा । इसलिए वे जो पुरवासियोंके कार्य देखें, उनके मामलोंका निपटारा करें, सो सब एक पत्रमें लिखकर मेरे पास भेज दें ।]

राजकाजके सम्बन्धमें राजाने ठीक ठीक आज्ञा दी । यद्यपि कल रातके जागनेके कारण आज ये धर्मासन पर बैठनेमें असमर्थ हैं, तथापि कोई विशेष कार्य उपस्थित होने पर उसे वे खुद करेंगे ।

इसके बाद प्रिय वयस्य विदूषकके सामने राजाने अपने हृदयका द्वार खोल दिया । विदूषक उन्हें आश्वास देने लगा । राजा अँगूठीसे भर्त्सनापूर्वक कहते हैं—" **अये इदं तदसुलभस्थानभ्रंशे शोचनीयम्—**

कथं नु तं कोमलबन्धुराङ्गुलिं
करं विहायासि निमग्नमंभसि ।

अथवा—

अचेतनं नाम गुणं न वीक्षते
मयैव कस्मादवधीरिता प्रिया ॥ "

VI 13

[यह अँगूठी उस दुर्लभ स्थानसे भ्रष्ट होनेके कारण इस समय शोचनीय अवस्थाको प्राप्त है । हे अँगूठी, उस कोमल और सुंदर

उँगलियोंवाले हाथको छोड़कर तू जलमें कैसे मग्न हो गई ? अथवा, अचेतन पदार्थ तो गुणको देखनेकी शक्ति नहीं रखता, पर मैंने सचेत होकर भी प्रियाका प्रत्याख्यान कैसे कर दिया ?]

फिर राजा शकुन्तलाको उद्देश करके कहते हैं—

"प्रिये अकारणपरित्यागादनुशयतप्तहृदयस्तावदनुकम्पतामयं जनः पुनर्दर्शनेन ।"

[प्रिये, अकारण तुम्हें त्याग कर देनेके कारण इस समय पश्चात्तापसे मेरा हृदय अत्यन्त जल रहा है । अब तुम फिर दर्शन देकर अपने इस जन पर कृपा करो ।]

इसके उपरान्त अपने ही अंकित शकुन्तलाके चित्रको देखते देखते अभिभूत होकर दुष्यन्त आँसू गिराने लगते हैं ।

इतनेमें ही राजकार्य आता है । मन्त्रीने राजाका परामर्श माँग भेजा है—**"विदितमस्तु देवानां धनवृद्धिर्नाम वणिक् वारिपथोपजीवी नौव्यसनेन विपन्नः, स चानपत्यः, तस्य चानेककोटिसंख्यं वसु, तदिदानीं राजस्वतामापद्यत इति श्रुत्वा देवः प्रमाणमिति ।"**

[महाराजको विदित हो कि धनवृद्धि नामका बनिया (सौदागर) जो जहाजपर सागरके मार्गसे घूमता और व्यापार करता था, जहाज डूब जानेके कारण मर गया है । उसके कोई लड़का बाला नहीं है, उसके यहाँ कई करोड़की संपत्ति है । वह धन इस समय राजाका है । महाराजकी इस बारेमें क्या आज्ञा है ?]

राजाने आज्ञा दी कि उसके अनेक स्त्रियाँ होना संभव है । अगर उसकी किसी विधवा पत्नीके गर्भमें सन्तान हो, तो वही उस सम्पत्तिका स्वामी है ।—इतना कहकर फिर बोले—**"किमनेन सन्ततिरस्ति नास्तीति ।"**

" येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना ।
न स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम् ॥"

(सन्तान है या नहीं, इससे क्या मतलब ? घोषणा कर दो कि प्रजाओंको जिस जिस स्नेहपात्र बन्धुका वियोग हो उस बन्धुका स्थान दुष्यन्त पूर्ण करेगा, किन्तु वह प्रजा किसी पापकर्मसे कलुषित न हो ।)

इस स्थानपर कविने अपने नाटकके नायकको हद दर्जे तक ऊपर उठा दिया है । इतने शोकमें भी राजा राजकाजको, अपने कर्तव्य-को नहीं भूले । शासनका काम पहलेहीकी तरह, मशीनकी तरह, चल रहा है । किन्तु उस शासनमें राजाके शोककी छाया आकर पड़ गई है। ऊपर उद्धृत राजाकी आज्ञामें हम देखते हैं कि उस आज्ञामें उनके शोक, उनके धर्मज्ञान, उनके कर्तव्य और स्नेह, उनके वर्त्तमान और अतीतने मिलकर एक अपूर्व इन्द्रधनुष्यकी रचना कर दी है। अपु-त्रक सौदागर बनियेकी सम्पत्तिको राजा हड़प कर सकते थे। किन्तु उसके उत्तराधिकारीको खोज कर वह सम्पत्ति देनी होगी । यहाँपर बनियेकी पुत्रहीनता और उसकी विधवाओंका शोक राजाकी अपनी पुत्रहीनता और शोकके साथ आकर मिल गया । राजा और प्रजामें कुछ भेद नहीं रहा । समान दुःखने दोनोंको बराबर कर दिया । राजा अनुकम्पासे गल गये । बोले—" जिस जिसके प्रियजनका वियोग हो गया है (वह अगर पापी न हो, तो) दुष्यन्त उसका बन्धु है ! "—बढ़िया उक्ति है !

सप्तम अँकमें राजा और ऊपर उठते हैं । स्वर्गसे लौटते समय हेमकूटपर्वतपर कश्यपके आश्रममें उन्होंने शकुन्तलाको पाया ! देखा—

" वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः ।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति ॥"

[यह इस समय मलिन वस्त्र धारण किये है, कठोर विरहव्रतके कारण इसका मुख सूख गया है। इसके मस्तकपर केवल एक ही वेणी है। यह शुद्धशीलवाली शकुन्तला मुझ अति निष्ठुरका बहुत लम्बा विरहव्रत धारण किये हुए है।]

इसके बाद शकुन्तलाके साथ राजाका प्रथम संभाषण अत्यन्त नीरस है। वे पहलेपहल शकुन्तलाको सम्बोधन करके जो वाक्य कहते हैं उन्हें पढ़कर राजाके ऊपर जी खीझ उठता है। वे कहते हैं—

"प्रिये क्रौर्यमपि मे त्वयि प्रयुक्तमनुकूलपरिणामं संवृत्तम्।
तदहमिदानीं त्वया प्रत्यभिज्ञातमात्मानमिच्छामि ॥"

[प्रिये, मैंने तुम्हारे साथ क्रूरताका व्यवहार अवश्य किया, किन्तु उसका परिणाम अनुकूल अर्थात् सुखदायक ही हुआ। इसीसे मैं तुमसे परिचित होनेकी इच्छा करता हूँ।]

इसके बाद भी ऐसी ही उक्ति है।—

शकुन्तलाने कुछ उत्तर नहीं दिया। इसके उपरान्त फिर राजाने कहा—

"स्मृतिभिन्नमोहतमसो दिष्ट्या प्रमुखे स्थिताऽसि मे सुमुखि।
उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणीयोगम् ॥"

[हे सुमुखि प्रिये, पूर्ववृत्तान्त स्मरण हो आनेसे मेरा मोहांधकार दूर हो गया है। बड़ी बात है जो इस समय तुम वैसे ही मेरे सामने उपस्थित हो, जैसे राहुग्रासके उपरान्त चन्द्रमाको रोहिणी-योग प्राप्त हुआ हो।]

इसके बाद जब शकुन्तलाने कहा—"आर्यपुत्रकी जय हो," उस समय भी राजा कहते हैं—

"बाष्पेण प्रतिरुद्धेऽपि जयशब्दे जितं मया।
यत्ते दृष्टमसंस्कारपाटलोष्ठपुटं मुखम्॥"

[प्रिये, जयशब्द आँसुओंसे अवरुद्ध हो जानेपर भी मुझे जय प्राप्त हो गई, जो मैंने इस समय यह असंस्कारके कारण पाटलवर्ण हो रहे ओठोंसे शोभित तुम्हारा मुखमण्डल देखा।]

उस समय भी राजा यही कह रहे हैं कि उनका भाग्य अच्छा है, वे जयशाली हैं। किन्तु बादको जब शकुन्तला अभिमानवश रो दी, तब राजा यह कहकर शकुन्तलाके पैरोंपर गिर पड़े—

"सुतनु हृदयात्प्रत्यादेशव्यलीकमपैतु ते,
किमपि मनसः संमोहो मे तदा बलवानभूत्।
प्रबलतमसामेवं प्रायाः शुभेषु हि वृत्तयः,
स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया॥"

[हे सुतनु, मेरे त्याग करनेसे तुम्हारे हृदयमें जो निदारुण पीड़ा उत्पन्न हुई है, उसे तुम हृदयसे हटा दो। क्योंकि उस समय मेरे मनको प्रबल मोह हो गया था। प्रबल मोहमें फँसे हुए लोगोंकी वृत्तियाँ शुभमें ऐसी ही हुआ करती हैं, जैसे अंधा आदमी गलेमें पहनाई गई मालाको सर्प समझ उतार कर दूर फेक देता है।]

शायद राजा उस समय तक आत्मगोपन कर रहे थे। यह सोचकर कि अनुभूतिको प्रश्रय देनेसे वह उन्हें अभिभूत कर देगी, फिर बात करनेका अवसर नहीं मिलेगा, वे अबतक अनुभूतिको दबाये रखकर बातचीत कर रहे थे।

इसके बाद दुष्यन्तने शकुन्तलाको पाया; उनका मिलन हो गया।

शायद पाठकगण इतने संक्षेपमें मिलन देखनेके लिए प्रस्तुत नहीं थे। किन्तु पाठकोंको स्मरण रखना होगा कि राजा छठे अंकमें जब

विलाप कर रहे थे, तब मिश्रकेशी अप्सरा (शकुन्तलाकी माता मेनकाकी सखी) वहाँ अदृश्य भावसे रह कर सब सुन गई थी, और उसने वह सब हाल जाकर शकुन्तलाको सुना दिया था। राजाने शकुन्तलाको क्यों त्याग कर दिया था, इसका कारण कालिदासने राजाके विलापके साथ कौशलसे रखकर शकुन्तलाको सुना दिया था, और उन्हें इस तरह मिलनके लिए प्रस्तुत कर रक्खा था। छठे अंकका विलाप कौशली कालिदासने इस तरह काममें लगा दिया। उसीके कारण अन्तिम अंकमें राजाके विस्तृत पश्चात्तापका प्रयोजन नहीं हुआ। मिलन शीघ्र ही सम्पन्न हो गया।

इस सातवें अंकमें राजाके चरित्रका और एक पहलू हमें देखनेको मिलता है। देखते हैं, वे शिशुवत्सल हैं! अपने पुत्रको राजा देखते हैं (उस समयतक वे उस बालकको अपना पुत्र नहीं जान सके थे) और सोचते हैं—

"आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासै-
रव्यक्तवर्णरमणीयवचः प्रवृत्तीन्।
अंकाश्रयप्रणयिनस्तनयान्वहन्तो
धन्यास्तदंगरजसा पुरुषा भवन्ति॥"

[अकारणकी हँसीसे जिनके दन्तमुकुल कुछ कुछ देख पड़ते हैं, जिनके अस्पष्ट बोल तोतलेपनसे बहुत ही रमणीय जान पड़ते हैं, और जो गोदमें रहनेके बड़े प्रेमी हैं, ऐसे बालकोंको गोदमें लेनेवाले पुरुष उन बालकोंके शरीरकी धूलसे धन्य होते हैं।]

इसके बाद बालकको स्पर्श करके राजा कहते हैं—

"अनेन कस्यापि कुलाङ्कुरेण, स्पृष्टस्य गात्रे सुखिता ममैवम्।
कां निर्वृतिं चेतासि तस्य कुर्यात्यस्यायमङ्गात्कृतिनः प्रसूतः॥"

[यह बालक किसीके कुलका अंकुर है। इसके स्पर्शसे जब मुझे इतना सुख प्राप्त हो रहा है, तब जिस पुण्यात्माका यह बालक है, उसको इसके स्पर्शसे न जाने कैसा सुख मिलता होगा !]

जो राजा नाटकके आरंभमें केवल साधारण कामुक पुरुष भर प्रतीयमान हुए थे, नाटकके अन्ततक पढ़कर इस प्रकार उनके चरित्र-का विकास देखकर, हमारा हृदय आप ही उनका सम्मान करनेके लिए उद्यत हो जाता है। नाटक पढ़नेके बाद अन्तमें हम समझते हैं कि दुष्यन्त कोरे कामुक नहीं हैं, वे प्रेमिक हैं, पुत्रवत्सल हैं, कवि हैं, चित्रकार हैं, और कर्त्तव्यपरायण राजा भी हैं। कालिदासका कौशल देखकर स्तंभित होना पड़ता है कि उन्होंने कैसा साधारण चरित्र पाया था, और उसे कैसा गढ़कर बना दिया ! धन्य है कालि-दासकी कुशल-कल्पना और प्रतिभाको !

दुष्यन्तका चरित्र अतीव मिश्र चरित्र है—वह दोष गुणका मनोहर संगम है। कालिदास हजार अलंकारशास्त्रको बचाकर चलें, उनकी प्रतिभा कहाँ जायगी ? वे मानवचरित्रके ज्ञाता महाकवि ठहरे। वे एक महत् मानवचरित्र अंकित करने बैठे हैं। तथापि वे दुष्यन्तको साधु जितेन्द्रिय वीरश्रेष्ठ महापुरुष बनाकर नहीं दिखा सके। शायद वे इस रूपमें दुष्यन्तको दिखाते भी, किन्तु वैसा करते तो उन्हें महाभारतमें वर्णित सभी प्रधान घटनाओंकी उपेक्षा करनी पड़ती, और ऐसा होनेपर वह दुष्यन्तका चरित्र न होता। वह शायद कामजयी अर्जुन अथवा त्यागी भीष्मपितामहका चरित्र हो जाता। किन्तु कालिदास महाभारतके विरुद्ध नहीं जासकते। पाठकोंको सम-झना चाहिए कि यह नाटक दुष्यन्त और शकुन्तलाके प्रणयकी कहानी है, शिव-पार्वतीका व्याह नहीं है। इसी कारण ऋषियोंके

प्रति विश्वासघातकता और शकुन्तलाके साथ लंपटताका व्यवहार, सभी कुछ कालिदासको रखना पड़ा। और यह सब रख कर भी चरित्रको महत् बनाया, सुन्दर बनाया, किन्तु चन्द्रके कलंकको नहीं पोंछा। और यही मैं कह रहा था कि दोष और गुण दोनोंसे दुष्यन्तका चरित्र एक मनोहर अपूर्व मिश्र चित्र है।

२–शकुन्तला।

प्रतिभाके अभिज्ञान-स्वरूप शकुन्तला नाटकमें, शकुन्तलाके चरित्रमें, हमको कालिदासका पूर्ण विकास देख पड़ता है।

प्रथम अंकमें ही हम देखते हैं कि युवती शकुन्तला वल्कल पहने हुए अन्य दो युवतियोंके साथ तपोवनके बीच पुष्पवृक्षोंमें जल सींच रही है। सब फूलोंमें मानों तीन सजीव फूल खिले हुए हैं। चारों तरफ तपोवनकी छाया, शान्ति और निर्जनता है। शकुन्तला नेपथ्यसे सखियोंको पुकारती है–"इदो इदो पिअसहीओ" (इधर इधर प्रिय सखियो!)। ऐसा जान पड़ता है वह मधुर आह्वान मानों पाठकगण अपने कानोंसे ही सुन रहे हों। इसके बाद जब शकुन्तला पानीका घड़ा कमरपर रक्खे हुए सखियोंके साथ पाठकोंके सामने उपस्थित होती है; तब हम मानों एक सुंदर चित्र देखते हैं।

प्रियंवदा, अनसूया और शकुन्तलाकी बातचीतमें हम शकुन्तलाके कोमल हृदयका परिचय पाते हैं। अनसूया जब दुःख प्रकट करके कहती है—"तात कण्वने तुम्हारे इस नवमालिका-कुसुम-कोमल शरीरको वृक्षोंको सींचनेके काममें लगाया है!" तब शकुन्तला कहती है—"यह केवल तात कण्वकी आज्ञा ही नहीं है, इन वृक्षोंके प्रति मुझे सहोदर भाइयोंके ऐसा स्नेह है।"

इस एक ही वाक्यमें शकुन्तलाके हृदयका अधिक अंश देखनेको मिल जाता है । वृक्ष-लता आदिके ऊपर शकुन्तलाका स्नेह वैसा ही है, जैसा मनुष्यके ऊपर मनुष्यका होता है । उस शान्त तपोवनमें अनसूया और प्रियंवदा शकुन्तलाकी सखियाँ हैं, किन्तु वृक्ष-लता भाई-बहन हैं ! शकुन्तला मानों उस श्यामल 'प्रकृति' की अधिष्ठात्री देवी है। शकुन्तला मानों उन्हीं वृक्ष-लता आदिके बीचसे निकलकर अनसूया और प्रियंवदासे बातचीत कर रही है। किन्तु साथ ही साथ जैसे अपने भाई-बहनोंको अपने हाथसे भोजन कराती जाती है, और सखियोंके साथ उन्हींके बारेमें बातचीत करती जाती है। शकुन्तलाको जान पड़ता है कि आमका पेड़ मानों उँगलियोंके इशारेसे उसे बुला रहा है, और तब वह कहती है—"ठहरो सखी, वह क्या कहता है, सुन आऊँ।" इतना कहकर शकुन्तला आमके पेड़के पास जाकर उसकी शाखा पकड़कर खड़ी हो जाती है । प्रियंवदा यह दृश्य देखकर अपने मनमें सोचती है, मानों एक लता आमके पेड़से लिपट गई है । अनसूयाने कहा—"वनतोषिणी (लता) ने स्वयंवरा होकर आमका आश्रय ग्रहण किया है । तुम क्या उसे भूल गई हो ?" शकुन्तलाने उत्तर दिया—"जिस दिन वनतोषिणीको भूलूँगी उस दिन अपनेको भी भूल जाऊँगी ।" इतना कहकर शकुन्तला फूली हुई वनतोषिणीको और फलोंके बोझसे झुके हुए आम्रतरुको देखने लगी । वह इतने एकाग्रमनसे देखने लगी कि प्रियंवदाने दिल्लगीसे कहा—"शकुन्तला इतने स्नेहसे इस तरु-लता-संमिलनको जो देख रही है उसका कारण यही है कि वनतोषिणी लता जैसे अनुरूप वृक्षके साथ संमिलित हुई है वैसे ही अपने अनुरूप वर पानेकी अभिलाषा इसके मनमें भी है।" शकुन्तलाने कहा—"यह तुम्हारे ही मनका भाव है ।" इसके बाद

माधवीलताके प्रति शकुन्तलाका स्नेह देखकर सखियोंने जो दिल्लगी की, उसमें भी यही एक भाव देख पड़ता है। यह कैसा मधुरभाव है! इस अपूर्व सरलताके आगे 'मिरांडा' की सरलता कोई चीज नहीं जान पड़ती।

सहसा इस शान्त सरल स्वच्छ चरित्रके ऊपरसे एक हलकी सी हवाका झोंका निकल गया। सरोवरका जल हिल उठा। एक सुंदर सौम्य युवा पुरुषने आकर उस तपस्यामें विघ्न डाल दिया! निद्रित सुकुमार शिशु मानों जाग उठा। सहसा हमें देख पड़ता है, शकुन्तला तापसी होकर भी नारी है। हम देखते हैं कि वह हृदय केवल शान्त स्नेह और अकलुषित सरलतासे ही संगठित नहीं है। उसमें प्रेमिककी अस्थिरता है, छल है, डाह है। अतिथि राजाको देखते ही शकुन्तलाके मनमें तपोवनके विरुद्ध भाव आ गया। वह राजाके प्रेममें मुग्ध हो गई। इस प्रथम अंकमें ही शकुन्तलाके मनका बाँकपन देखकर हम विस्मित होते हैं। प्रथम अंकमें ही जब दोनों सखियाँ शकुन्तलाके मनोगत भावको जानकर परिहासके ढँगपर कहती हैं कि "सखी शकुन्तला, अगर इस समय तात कण्व उपस्थित होते।" शकुन्तलाने इस भावसे कि मानों वह कुछ जानती ही नहीं है, कहा—"**तदो किं भवे**" (तो क्या होता?) किन्तु अपने मनमें सोचती है कि तो शायद ऐसी सुविधा न होती। दोनों सखियाँ उत्तर देती हैं—"तो वे अपना जीवन-सर्वस्व देकर इन अतिथिवरका समुचित सत्कार करते।" इसपर शकुन्तला कहती है—"**तुम्हे अवेध। किम्पि हिअए करिअ मन्तेण। ण वो वअणं सुणिस्सं।**" (अर्थात् दूर होओ, तुम न जानें क्या खयाल करके यह कह रही हो। मैं तुम्हारी बातें नहीं सुनूँगी।)

शकुन्तला मुखसे तो कहती है कि तुम न जानें क्या खयाल करके यह बात कहती हो, अथच उस खयालको खुद खूब अच्छी तरह जानती है। मुँहसे तो वह चले जानेकी इच्छा प्रकट करती है, लेकिन असलमें उस जगहसे चले जानेकी इच्छा या इरादा रत्तीभर भी नहीं है। उठकर चलती है, तो उसका वल्कल शाखाओंमें फँस फँस जाता है। नारीकी यह मधुर छलना पगपग पर देख पड़ती है।

तीसरे अंकमें शकुन्तलाके मनकी स्वाभाविक वक्रता और भी विकासको प्राप्त हुई है। वह कामबाणोंसे घायल होकर सखियोंके आगे अपने मनका भाव व्यक्त करती है, और प्रेमिकको पानेके लिए दोनों सखियोंसे सहायता माँगती है। सखियोंने शकुन्तलाको सलाह दी कि राजाको प्रेमपत्र लिखो। शकुन्तलाने प्रेमपत्रिकामें यह लिखा—

" तुज्झ ण आणे हिअअं मम उण मअणो दिवावि रत्तिम्मि।
णिक्किव तवइ वलीअं तुइ वुत्तमणोरहाइ अंगाइं ॥ "

[तुम्हारे हृदयका हाल नहीं जानती, लेकिन तुममें मनोरथमय हुए मेरे अंगोंको तो मदन निर्दय होकर दिनरात अतिशय तपाता है। तुम्हारा हृदय बहुत ही करुणाहीन और कठिन है !]

राजा छिपे हुए आड़से यह सब देख रहे थे। वे यथासमय मौका देखकर तीनों तापसियोंके निकट गये। इस समय यह सबको मालूम हो चुका था कि ये पुरुवंशी राजा दुष्यन्त हैं। इसके उपरान्त प्रियंवदा राजासे कहती है—

"तेण हि इअं णो पिअसही तुमं ज्जेव उद्दिसिअ भअवदा मअणेण इमं अवत्थंतरं पाविदा। ता अरुहसि अब्भुववत्तीए जीविदं से अवलंबयिदुं।"

[भगवान् कामदेवने आपको ही उद्देश करके हमारी प्रिय सखीकी ऐसी अवस्था कर दी है। अतएव अब अनुग्रह करके आप हमारी सखीकी जीवनरक्षाका उपाय कर दीजिए।]

यह सुनकर शकुन्तला अपनी होनेवाली सौतोंके ऊपर कटाक्ष करती है—

"हला अलं वो अंतेउरविरहपज्जुस्सुएण राएसिणा अवरुद्धेण।"

[सखी, अन्तःपुरकी रमणियोंके विरहमें उत्कण्ठितचित्त इन राजर्षिको रोक रखनेका प्रयोजन नहीं है।]

यहाँपर भावी सौतोंके प्रति शकुन्तलाका ईर्षाका भाव देखकर हम बहुत अधिक विस्मित होते हैं। यह भी वह जानती थी ! विवाहका प्रस्ताव ठीक हो गया ! राजाने प्रतिज्ञा की कि शकुन्तला ही उनकी प्रधान पटरानी होगी। दोनों सखियोंने देखा कि अब दोनों प्रेमियोंको प्रेमालाप करनेका अवकाश देना उचित है। यह सोचकर दोनों सखियाँ बहानेसे शकुन्तलाको राजाके पास अकेले छोड़कर चली गईं। तब शकुन्तला सहसा कुछ शंकित हो उठी। ऐसी अवस्था कभी हुई नहीं थी, इसीसे शायद उसे यह क्षणिक संकोच हुआ। वह चले जानेको उद्यत हुई। राजाने उसको रोका। शकुन्तलाने देखा, उसका मान जाता है। उसने कहा—"छोड़ दीजिए, रोकिए (या पकड़िए) नहीं, मैं खुदमुख्तार नहीं हूँ।" इसके बाद जब राजाने जानेके लिए उद्यत शकुन्तलाका आँचल पकड़ लिया, तब शकुन्तलाने कहा— "पौरव, विनय मानिए, ऋषिगण चारों ओर भ्रमण कर रहे हैं।"

इसके बाद बाहर जाकर ही शकुन्तला फिर लौट आई, और बोली—"पौरव, अभागिनी शकुन्तलाको भूलना नहीं।" किन्तु शकुन्तला एकदम वहाँसे चली नहीं गई, आड़में खड़े होकर राजाकी अनुरागपूर्ण बातें सुनने लगी। इसके बाद हाथसे गिरे हुए मृणालवलयको खोजनेके बहाने वह फिर राजाके निकट पहुँची, और

वलय पहननेके वहाने उनके साथ प्रेमालाप करने लगा। शकुन्तलाने मुखचुम्बनमें आपत्ति की, किन्तु वह नाममात्रकी आपत्ति थी। इसके बाद गौतमीके आनेपर राजा छिप रहे। शकुन्तला राजाके उद्देशसे पुनः आमन्त्रण करके बाहर निकल गई।

इस तृतीय अंकमें शकुन्तलाका निर्लज्ज आचरण देखकर हम व्यथित होते हैं। हजार हो, वह तापसी थी! यह निश्चय है कि मेनकाके गर्भसे उसका जन्म न होता, तो उसका आचरण और भी संयत होता। कोई कोई कहते हैं कि तृतीय अंकका अन्तिम भाग कालिदासकी रचना नहीं है। यह मान लेनेपर भी इस अंकके प्रथम अंशको हम निर्दोष नहीं मान सकते। पुरुषके निकट नारीका प्रेमभिक्षा माँगना कुलटाको ही शोभा देता है। स्वयंवर होना पतित्वकी भिक्षा नहीं, पतित्वका दान है। जहाँ प्रेमालापके बाद ब्याह होनेकी प्रथा प्रचलित है, परिणयबन्धनके पहले 'कोर्टशिप' जायज है, वहाँ भी पुरुष ही नारीसे प्रेमकी याचना करता है। यद्यपि हम शेक्सपियरके नाटकमें देखते हैं कि मिरंडा फर्डिनंडसे प्रेमकी भिक्षा करती है—

"I am your wife, if you will marry me if not I die your maid, to be your fellow you may deny me, but I'll be your servant whether you will or not"*

किन्तु इस भिक्षामें एक ऐसी सरलता, गांभीर्य और आत्ममर्यादाका ज्ञान है कि जान पड़ता है, जैसे यह भिक्षा ही दान है। यह भिक्षा

---

*अर्थात्—यदि तुम मेरा पाणिग्रहण करोगे तो मैं तुम्हारी अर्धाङ्गिनी होकर रहूँगी। नहीं तो चिरकाल तक तुम्हारी दासी ही बनी रहूँगी। पत्नीरूपमें मुझे ग्रहण करना तुम भले ही अस्वीकार कर दो, पर चाहे तुम पसन्द करो या न करो मैं तो तुम्हारी दासी अवश्य हूँगी।

भिक्षा नहीं है—यह एक प्रतिज्ञा है। फर्डिनंड (Ferdinand) व्याह करे या न करे, उससे मिरंडा (Miranda) का कुछ आता जाता नहीं। वह फर्डिनंडसे कहती है—"व्याह करोगे? करो; मैं तुम्हारी स्त्री होऊँगी। व्याह नहीं करोगे? न करो; मैं तुम्हारी अनुरक्त दासी होकर रहूँगी। तुम क्या चाहते हो? छाँट लो!" यह जैसे रानी प्रजाको दान कर रही है। यह प्रेमभिक्षा नहीं है।

किन्तु शकुन्तलाकी भिक्षा भिक्षा है—या उसे आत्मविक्रय भी कह सकते हैं। उसमें यह भाव है कि "देखो, मैं यदि तुमको अपना यौवन दान करूँ तो तुम क्या दोगे? कुछ दो या न दो, मेरी रक्षा करो।" यहाँ केवल दैन्य जताना और याचना है।

मेरा विश्वास है कि इस देशमें, कालिदासके समयमें, कविगण प्रेमके स्वर्गीय भावको ठीक ठीक अनुभव नहीं कर सके थे। वैदिक-युगमें कामदेवकी दो स्त्रियाँ मानी जाती थीं—रति और प्रीति। रतिने धीरे धीरे अपनी सौत प्रीतिको निर्वासित करा दिया—निकाल बाहर किया। और, रति ही कामदेवकी एकमात्र प्रेयसी बन बैठी। शिवकी क्रोधाग्निमें कामदेव भस्म होकर 'अनंग' हो गये। किन्तु काव्यमें कामदेवकी यह 'अनंग' अवस्था बहुत कम देखनको मिलती है। शरीरधारी कामदेव ही सांसारिक हिसाबसे प्राचीन काव्यसाहित्यमें बहुत अधिक निर्भय भावसे राज्य कर गये हैं। अँगरेजी-साहित्यमें भी प्राचीन कालमें कामका बहुत अधिक अत्याचार था। क्रमशः कामदेव विशुद्ध होकर शेली (Shelley) और ब्राउनिंग (Browning) के काव्यमें अशरीरी प्रेमके रूपमें बदल गया। संस्कृत-साहित्यमें, कालिदासने अपनी स्वाभाविक प्रतिभाके बलसे प्रेमकी स्वर्गीय ज्योतिका जो कुछ कुछ आभास पाया था, वह इस शकुन्तलामें ही देख पड़ता

है। किन्तु तो भी शकुन्तला, विक्रमोर्वशी या मेघदूत, चाहे जिसमें देख लो, वे समयके प्रभावसे अपनेको नहीं बचा सके। यह ठीक है कि शकुन्तलाके प्रथम तीन अंकोंमें प्रेमकी, उमंगकी, उच्छ्वासकी, अवस्था है। किन्तु मेघदूतमें तो वे प्रेमका संयत अनुराग दिखा सकते थे। मगर उन्होंने वह नहीं दिखाया।

भवभूतिके समयमें, जान पड़ता है, प्रेम स्वच्छ हो आया था। विशुद्ध प्रेमके सम्बन्धमें भवभूतिकी कल्पनाके ऊपर किसी भी देश-का कोई कवि जा सका है या नहीं, इसमें संदेह है। भवभूतिको इस विष-यमें सुभीता भी था। क्यों कि उन्हें प्रेमका बहु दिनके सहवाससे उत्पन्न हुआ निर्भर-भाव दिखाना था। परन्तु कालिदासने वह सुयोग नहीं पाया। तथापि कालिदास चाहते तो प्रेमकी यह अवस्था दिखानेका सुयोग कहीं पर खोजकर निकाल भी सकते थे। इसीसे जान पड़ता है, कालिदासके मनमें कभी इतनी ऊँची धारणा उदय ही नहीं हुई।

प्रथम अंकमें शकुन्तलाका जो तरु-लता आदिके ऊपर स्नेह भाव प्रकट हुआ है,वह चतुर्थ अंकमें फिर देखनेको मिलता है। किन्तु उस समय उसके साथ प्रेम आकर मिल गया है और उससे एक अपूर्व माधुर्यकी सृष्टि हो गई है। शकुन्तला तन्मय होकर तपोवनमें दुष्यन्तका ध्यान कर रही है—इतनी तन्मय है कि दुर्वासाका उपस्थित होना भी उसे नहीं विदित हुआ; दुर्वासाने शाप दिया, उसे भी उसने नहीं सुन पाया। बादको कण्वमुनिके आने पर शकुन्तला उनके आगे आकर लज्जित भावसे खड़ी हो गई। कण्वमुनिने ध्यानसे, अथवा अशरीरी देववाणीके द्वारा, सब वृत्तान्त जान लिया। वे कुपित नहीं हुए, बल्कि शकुन्तलाको आशीर्वाद देकर उन्होंने उसके पतिके पास भेज दिया।

जिस समय शकुन्तला पतिगृहको जा रही है, उस समय तरुलता आदिके प्रति उसका स्नेह उमड़कर हृदयसे बाहर निकला पड़ता है। वह प्रियंवदासे कहती है—

" हला पिअंवदे अज्जउत्तदंसणुस्सुआए वि अस्समपदं परिच्चअन्तीए दुक्खदुक्खेण चलणा मे पुरोमुहा ण णिवडन्ति।"

[सखी प्रियंवदा, यद्यपि मैं आर्यपुत्र राजा दुष्यन्तके दर्शनोंके लिए बहुत ही उत्सुक हो रही हूँ, किन्तु इस आश्रमको छोड़नेके घोर दुःखसे मेरे पैर आगेकी ओर नहीं पड़ते।]

शकुन्तला पतिके घर जायगी—जिस पतिके लिए उसने धर्मके सिवा लज्जा आदि सब कुछको तिलांजलि दे दी, यह कहना भी अनुचित न होगा, उसी पतिके घर जायगी—तथापि उस तपोवनको छोड़कर जानेके लिए उसके पैर नहीं उठते। तपोवन भी जैसे शकुन्तलाके निकटवर्ती विरहसे मलिन हो रहा है। उस समय शकुन्तला माधवीलताके पास जाकर कहती है—" लता-भगिनी, मुझे आलिंगन करो "। कण्वसे कहती है—" तात, इसे आप देखिएगा।" सखियोंसे कहती है—" देखना, इस वनतोषिणी लताको मैं तुम्हारे हाथमें सौंपे जाती हूँ।" फिर कण्वसे कहती है—" यह गर्भके भारसे मंथर गतिवाली हरिणी जब बच्चा जने, तब मुझे खबर दीजिएगा।" इसके बाद अपने पीछे आनेवाले मृगशावकसे कहती है—" वत्स, मेरा अनुगमन करनेसे क्या होगा? लौट जाओ, पिता तुम्हारा लालन-पालन करेंगे।" इतना कहकर शकुन्तला रो देती है।

शकुन्तलाका यह भाव कालिदासने इतना कोमल और करुण अंकित किया है कि पढ़ते-पढ़ते प्रायः आँखोंसे आँसू बहने लगते हैं, कहनेको जी चाहता है कि " तपस्विनी, इन सबके बीचमें तो तुम

बड़े सुखसे रहती थीं ! इस तपोवनकी शान्त प्रकृतिके साथ तुम्हारी शान्त प्रवृत्ति तो खूब मेल खा गई थी ! यहाँ तुम्हें किस बातकी कमी थी ?—इन्हें छोड़कर कहाँ जा रही हो ?" किन्तु उद्दाम प्रेम सब रुकावटों और निषेधोंको तुच्छ करके अपनी उमंगमें दूसरी ही ओर जा रहा है। उसे कौन रोक रख सकता है ?

शकुन्तलाका यह प्रेम अधीर, उद्दाम और प्रबल है। यह प्रेम या तो अपने बलसे सर्वजयी होगा, और या एक प्रबल टक्करसे चूर चूर हो जायगा। शकुन्तलाका प्रेम इसी ढंगका है। जैसा प्रबल उसका प्रेम था, चरित्रका बल वैसा नहीं था। सावित्री होती तो वह अपने चरित्रके बलसे सब बाधा-विघ्नोंको नाँघ जाती। किन्तु शकुन्तला कोमलप्रकृति तपस्विनी थी, इसीसे उसके प्रेमने प्रबल धक्का खाया। वह उस धक्केको सँभाल नहीं सकी। वह प्रेम उस धक्केसे अवश्य चूर चूर हो जाता, लेकिन 'विवाह' उसे घेरे हुए था, और इसीसे उसकी रक्षा हुई।

वह धक्का पञ्चम अंकमें है। इस पञ्चम अंकमें शकुन्तलाकी और एक मूर्ति हमें देख पड़ती है। पहले तो राजसभामें शकुन्तलाका एक शंकायुक्त संकोच देख पड़ता है। शार्ङ्गरव और शारद्वत दोनों ऋषिशिष्य राजसभाको जाते समय राहमें राजपुरीके सम्बन्धमें तरह तरहकी समालोचना करते जाते हैं। किन्तु शकुन्तला मानों राजपुरीके उन दृश्योंको देख ही नहीं पाती, उस कोलाहलको सुन ही नहीं पाती। अगर वह देख-सुन पाती, तो उसे भी विस्मित होना पड़ता। वह अपने निकटवर्ती भविष्यके बारेमें सोच रही थी, अंमगलकी आशंका कर रही थी। "मेरी दाहनी आँख क्यों फड़क रही है ?" यह कथन स्पष्ट आशंकाका लक्षण है। इसके बाद राजसभामें पहुँचनेपर गौतमी

और शार्ङ्गरवने राजासे गर्भवती शकुन्तलाको ग्रहण करनेके लिए कहा, तब राजाका उत्तर सुननेके लिए उत्कर्ण होकर शकुन्तला सोचती है—"**किण्णु क्खु अज्जउत्तो भणिस्सदि**"। (अब देखो आर्यपुत्र क्या कहते हैं !)

इसके बाद राजाने जब कहा—"**अये किमिदमुपन्यस्तम् ?**" (अजी यह क्या उपन्यास सा रचा है ?), तब भी शकुन्तलाके हृदयमें प्रत्याख्यानकी आशंका नहीं उत्पन्न हुई। उसने अपने मनमें केवल यही सोचा—"**हद्धी हद्धी सावलेवो से वअणावक्खेवो।**" (हा धिक् ! हा धिक् ! इनके वाक्य अत्यन्त गर्व और आक्षेपसे युक्त हैं।)।

इसके बाद जब राजाने प्रश्न किया कि "मैंने क्या कभी पहले इनसे विवाह किया है ?" तब शकुन्तलाने अपने मनमें सोचा—सर्वनाश हो गया ! हृदय, तू जो आशंका कर रहा था, वही ठीक निकली। शकुन्तलाने सोचा, शायद राजा उसे ग्रहण नहीं करना चाहते। बादको जब गौतमीके कहनेसे शकुन्तलाने घूँघट हटा लिया, और उसकी रूपराशि देखकर भी राजाने उससे ब्याह करना नहीं स्वीकार किया, तब शकुन्तला एकदम हताश हो गई और उसका हृदय जैसे बैठ गया। पाठकगण लक्ष्य करेंगे कि शकुन्तलाने अबतक अपने मुँहसे एक बात भी नहीं निकाली थी। इस समय गौतमीके अनुरोधसे उसने राजाको 'आर्यपुत्र' इस सानुराग संबोधनसे एकबार पुकार कर ही अभिमानके मारे उस संबोधनको वापस ले लिया, और फिर राजोचित संमानके साथ कहा—"हे पौरव ! धर्मानुसार पाणिग्रहण करके इस समय उसे अस्वीकार करना क्या उचित है ?"। इसके बाद राजाका वृत्तान्त स्मरण करानेके लिए अँगूठी निकालते समय जब वह अँगूठी नहीं मिलती है, तब हम उसकी मूर्तिकी कल्पना

कर सकते हैं। अंतको उसने एक बार अंतिम प्रयास किया—पूर्ववृत्तान्त कहकर याद दिलानेकी चेष्टा की; पर वह चेष्टा भी व्यर्थ हुई। इस समय तक भी हमने शकुन्तलाकी रौद्र मूर्ति नहीं देखी। अंतको जब राजाने संपूर्ण स्त्रीजातिके ऊपर चातुरी (फरेब) का अपवाद लगाया, तब शकुन्तलाका गर्व चोट खाकर जाग उठा। उसने रोषके साथ कहा—

“ अणज्ज ! अत्तणो हिअआणुमाणेण किल सव्वं पेक्खसि। को णाम अण्णो धम्मकंचुअव्ववदेसिणो तिणच्छण्णकूवोवमस्स तुह अणुआरी भविस्सदि। ”

[हे अनार्य ! तुम अपने हृदयके अनुरूप ही सबको देखते हो ? तुम धर्मकंचुकधारी तृणसे ढके हुए कूपके समान हो। तुम्हारे समान और कौन होगा ?]

प्रतारित नारीकी समस्त लज्जा, रोष और घृणा शकुन्तलाके हृदयमें प्रज्वलित हो उठी। उसका क्रोधसे लाल मुखमण्डल देखकर दुष्यन्त तक स्तंभित हो उठे। साध्वी शकुन्तलाने क्रोधसे काँपते हुए स्वरमें कहा—

“ तुम्हे ज्जेव पमाणं जानध धम्मात्थिदिश्च लोअस्स।
लज्जाविणिज्जिदाओ जाणन्ति ण किंपि महिलाओ॥
सुट्ठ दाव अत्तच्छन्दाणुचारिणी गणिआ समुवट्ठिदा॥ ”

[राजन्, तुमने जो मेरा पाणिग्रहण किया है, उसका साक्षी धर्मके सिवा और कोई नहीं है। कुललनाएँ क्या कभी इस तरह निर्लज्ज होकर परपुरुषकी आकांक्षा किया करती हैं ? क्या तुम यह समझते हो कि मैं स्वेच्छाचारिणी गणिकाकी तरह तुम्हारे निकट उपस्थित हुई हूँ ?]

इसके बाद जब गौतमीने शकुन्तलासे कहा—"हाय, पुत्री, पुरुवंशके राजा महत् होते हैं, इस भ्रान्त विश्वासमें पड़कर तुमने इस शठके हाथमें आत्मसमर्पण कर दिया।" तब शकुन्तला अत्यन्त क्षोभके कारण रो दी। फिर गौतमी और ऋषिके दोनों शिष्य जब शकुन्तलाको छोड़कर जानेके लिए उद्यत होते हैं, तब वह हताश स्वरसे कहती है—"इस शठने मुझको त्याग दिया, और तुम भी मुझे छोड़े चले जाते हो?" इतना कहकर शकुन्तला उनके पीछे जाना चाहती है, तब शार्ङ्गरव फिरकर कहते हैं—"आः पुरोभागिनि **किमिदं स्वातंत्र्यमवलम्बसे?**" (आः एकमात्र दोष देखनेवाली, यह कैसी स्वतन्त्रताका आश्रय ग्रहण कर रही हो?) इस समय शकुन्तला काँपने लगती है।

तदनन्तर राजपुरोहित राजाको सलाह देते हैं—

"त्वं साधुनैमित्तिकैरुपदिष्टपूर्वः प्रथममेव चक्रवर्तिनं पुत्रं जनयिष्यसीति। स चेन्मुनिदौहित्रस्तल्लक्षणोपपन्नो भविष्यति, ततोऽभिनन्द्य शुद्धान्तमेनां प्रवेशयिष्यसि, विपर्यये त्वस्याः पितुः समीपगमनं स्थिरमेव।"

(महाराज, पहले श्रेष्ठ ज्योतिषी पण्डित आपसे कह चुके हैं कि आपके पहले पहल चक्रवर्तीके लक्षणोंसे युक्त पुत्र उत्पन्न होगा। इस मुनिकन्याके होनेवाला बालक अगर चक्रवर्तीके लक्षणोंसे युक्त हो, तो इसे विशुद्ध समझकर अपने अन्तःपुरमें स्थान दीजिएगा। और अगर इसके विपरीत हो, तो इसे इसके पिताके आश्रममें भेज देना ही निश्चित रहा। अतएव बालक उत्पन्न होनेके समयतक परीक्षार्थ इसे यहाँ रहने देना चाहिए।)

पुरोहितके इस लज्जाजनक प्रस्तावको सुनकर शकुन्तलाने कहा—"भगवती वसुन्धरा, मुझे स्थान दो!" हम भी साथ ही साथ कहते हैं कि "कोई आकर इस प्रतारित असहाय बालिकाको स्थान दो।" इसके उपरान्त जब सब लोग सभाभवनसे बाहर निकलते हैं और पुरोहित फिर प्रवेश करके कहता है—"महाराज, स्त्रीके आकारकी एक ज्योतिने आकाशसे उतरकर शकुन्तलाको गोदमें ले लिया और वह अन्तर्धान हो गई।" उस समय हम सोचते हैं कि जान बची! राजाके घरमें परीक्षाके लिए रहनेकी अपेक्षा शकुन्तलाकी मृत्यु ही श्रेय थी। शकुन्तला राजाके प्रत्याख्यान और दुर्वासाके शापको लात मारकर स्वर्ग चली गई।

इसी जगह पर कालिदासकी कल्पनाका महत्त्व है! यहीं पर शकुन्तला-चरित्रका चरम विकास है। यहीं पर साध्वी स्त्री और असती स्त्रीका अन्तर सबसे बढ़कर व्यक्त है। असती स्त्री जैसे यहाँतक अधःपतित हो सकती है कि प्रणयीके लिए अपने पुत्रकी हत्या तक (जो कि माताके लिए सबसे बढ़कर अस्वाभाविक और भीषण कार्य है) कर सकती है, वैसे ही साध्वी सती यहाँतक ऊँचे उठ सकती है कि पतिकी (जिससे बढ़कर स्त्रीके लिए पूज्य और कोई नहीं है) निष्करुण अवहेलाको तुच्छ करके गर्वके साथ सिर ऊँचा करके खड़ी रहती है। शकुन्तलाके प्रत्याख्यानके परिणाममें कविने दिखलाया कि दुष्यन्तकृत शकुन्तलाका प्रत्याख्यान अन्याय है, और ऋषिका शाप उसे घेरे अवश्य रह सकता है, किन्तु साध्वीके महत्त्वको खर्व नहीं कर सकता। वह दूर सम्मानके साथ हाथ जोड़े खड़ा रहता है! शकुन्तलाको दंशन करके ऋषिका शाप आप ही पञ्चत्वको प्राप्त हो गया—उससे शकुन्तलाको क्षणिक यंत्रणा मात्र प्राप्त हुई।

सातवें अंकमें शकुन्तला विरहिणीकी अवस्थामें देख पड़ती है। यथा—

" वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घे विरहव्रतं बिभर्ति॥ "

[इस श्लोकका अर्थ पीछे लिखा जा चुका है।]

किन्तु यह विरह पूर्वोक्त विरहसे कुछ पृथक् है। प्रथम विरह प्रथम प्रेमहीकी तरह उच्छ्वास-पूर्ण और अनियत है। यह विरह दृढ़, शान्त और संयत है। प्रथम विरहमें आशंका और संदेह है; इस विरहमें विश्वास और अपेक्षा है। इस विरहमें विशेषता है, एक अपूर्व माधुरी है।

इस अंकमें ही शकुन्तला-चरित्रका एक अभावनीय सौन्दर्य हम देखते हैं। वह सौन्दर्य उसका पुत्रगर्व है! उसका प्रत्याख्यात सारा स्नेह उसके पुत्रके प्रति संचित हो गया। किन्तु कालिदासने उसे नेपथ्यमें दिखाया है। नाटकमें हम देख पाते हैं कि शकुन्तलाका पुत्र अत्यन्त अधिक आदरके कारण दुर्दान्त हो उठा है। तथापि उसकी माताका नाम उच्चारण करते ही वह अपने खिलौने तकको भूल जाता है। शकुन्तलाने बालकके साथ अधिक बातचीत नहीं की। किन्तु जो दो एक बातें की हैं, वे जैसे परिपूर्ण अर्थसे काँप रही हैं। बालकने जब मातासे पूछा—" यह (दुष्यन्त) कौन है ? " तब शकुन्तलाने उत्तर दिया—" अपने भाग्यसे पूछो! " इस उत्तरमें पुत्र-स्नेह, पतिका अन्याय, दैवका अत्याचार सब कुछ है। शकुन्तला जानती थी कि उसने कोई पाप नहीं किया। उसने केवल सरल चित्तसे प्यार किया था, विश्वास किया था। तथापि ऐसा क्यों हुआ ? इस उत्तरमें पुत्रके प्रति, स्वामीके प्रति, विधाताके प्रति साध्वी शकु-

न्तलाका अभिमान प्रकट है। पुत्र नहीं समझा, इसीसे चुप रह गया। राजा समझे, इसीसे वे रोती हुई शकुन्तलाके पैरोंपर गिर पड़े, और उन्होंने शकुन्तलासे क्षमाकी प्रार्थना की। विधाताने यह बात सुनी, इसीसे उन्होंने दोनों प्रेमियोंका मिलन संपन्न कर दिया।

शकुन्तलाचरित्रको सब पहलुओंसे देखनेपर उसमें ऐसी कुछ विशेषता देखनेको नहीं मिलती। विशेषतामें यही एक बात नजर आती है कि तपोवनके साथ उसकी एकान्त घनिष्ठता थी। वह कोमल-प्रकृति, प्रेमपूर्ण हृदयवाली, गर्विणी, पुत्रवत्सला तापसी है। किन्तु अन्यत्र वह केवल साधारण नारीमात्र है। प्रथम अंकमें दोनों सखियोंके साथ उसकी बातचीत एक साधारण कुमारीकी है। प्रियंवदाने जब दिल्लगी की कि "वनतोषिणी आम्रवृक्षसे लिपटी हुई है, शकुन्तला इस भावसे कि मैं भी ऐसा ही अपने अनुरूप वर पाऊँ, उत्सुक दृष्टिसे उसकी ओर देख रही है।" तब उसके उत्तरमें शकुन्तलाने कहा—"**एस दे अत्तणो चित्तगदो मणोरहो।**" (यह तुम्हारे अपने हृदयका मनोरथ है।) इस तरहकी बातचीत आधुनिक भारतीय महिलाओंमें भी अक्सर हुआ करती है। आगे, पर-पुरुषके सामने हरएक विवाहयोग्य बालिका शकुन्तलाकी ही तरह लज्जासे सिर झुका लेती है। इसके उपरान्त राजाको देखकर शकुन्तलाके हृदयमें प्रेमके उदय होनेकी बात है। यथा—

"**कधं इमं जणं पेक्खिअ तवोवणविरोहिणो विआरस्स गमणीआम्हि संवुत्ता।**"

[इनको देखकर मेरे मनमें तपोवनके विरुद्ध विचारका आविर्भाव कैसे हो रहा है?]

ऊपर प्रातःकालीन सूर्यकिरणोंके समान भासित होता है, रोनेके ऊपर व्यंग्यसा समझ पड़ता है। किन्तु भवभूति बेचारे क्या करें? मिलन तो कराना ही होगा। उन्होंने काव्य-कलाकी हत्या करके अलंकार-शास्त्रको बचा लिया।

कालिदासने बुद्धिमानीके साथ ऐसा विषय छाँट लिया कि उसमें उन्हें काव्यकला या अलंकारशास्त्र किसीकी भी हत्या न करनी पड़ी। परन्तु भवभूतिने ऐसा विषय चुना कि अलंकारशास्त्रको अक्षुण्ण रखकर उसका नाटक बनाया ही नहीं जा सकता।

भवभूतिने इस नाटकको इस तरह समाप्त करके केवल काव्यकलाका ही हत्या नहीं की, Poetic justice (काव्य-न्याय) का भी गला घोंट दिया है। एक अत्याचारी पुरुषको अंतमें सुखी देखकर पाठक या श्रोता कोई नहीं संतुष्ट होता। परन्तु भवभूतिने इस नाटकमें वही किया है।

दुष्यन्तने जो शकुन्तलाका प्रत्याख्यान किया, उसके बारेमें कविने दिखाया है कि उसके लिए दुष्यन्त दोषी नहीं है, उसका कारण भ्रान्ति है। वह भ्रान्ति भी दैवघटित थी, और इसी कारण दुष्यन्त दोषी नहीं ठहराये जा सकते। किन्तु रामने जो सीताका त्याग किया, सो भ्रान्ति या प्रमादमें पड़कर नहीं, अपनी इच्छासे जान-बूझकर किया। प्रजाके कहनेसे, बिना विचारे, विश्वास रखनेवाली, पतिगत-प्राणा, आजन्मदुःखिनी जानकीको अकेले वनमें छोड़ दिया। इसमें संदेह नहीं कि ऐसा करनेमें खुद रामको भी कष्ट हुआ, किन्तु वह कष्ट उन्हें स्वयं अपने ही दोषसे उठाना पड़ा। रामको कष्ट हुआ, इसी लिए सीताका निर्वासन न्याय-विचार नहीं कहा जा सकता। राम निश्चित रूपसे सोच रहे थे कि सीताको वन-वास देकर वे राजाके कर्तव्यका पालन कर रहे हैं। लेकिन असलमें

उन्होंने अपने कर्तव्यका पालन नहीं किया। प्रजा जो कुछ कहे, उसीको आँख मूँदकर मान लेना या सुनना राजाका कर्तव्य नहीं है। राजाका कर्तव्य न्याय-विचार है। यदि सीता उनकी पत्नी थीं, तो क्या प्रजा नहीं थीं? माता, भ्राता, पत्नी, पुत्र आदिको प्रजाकी इच्छा होते ही वनवास देना या सूलीपर चढ़ा देना क्या उचित माना जा सकता है? Brutus (ब्रूटस) ने पुत्रके वधकी आज्ञा दी थी—किन्तु इस लिए कि पुत्र वास्तवमें दोषी था, इस लिए नहीं कि प्रजाने उस-पर अभियोग लगाया था। सीतापर अभियोग लगाया गया था। राम जानते थे कि सीता बिल्कुल ही निरपराध है। अगर प्रजाके आगे भी सीताको निर्दोष प्रमाणित करनेका प्रयोजन होता, तो रामचंद्र निर्वा-सन-दंड देनेके पहले दुबारा अग्निपरीक्षाका प्रस्ताव भी कर सकते थे। किन्तु कोई बातचीत नहीं, जैसे अभियोग लगाया गया, वैसे ही वन-वासका दंड दे दिया! सीताका भी तो कुछ अस्तित्व है। उसका हृदय भी तो अनुभव करता है। रामको उसे दुःख देनेका अधिकार क्या है? ऐसे राम निश्चय ही फिर सीताको पानके योग्य नहीं हैं। उन्होंने पाया भी नहीं—यही Poetic justice (काव्य-न्याय) है। भवभूतिके राम प्रजारञ्जनके फेरमें पड़कर एक बहुत बड़े कर्तव्यसे स्खलित हो गये हैं। वह कर्तव्य था, न्याय-विचार। उस कर्तव्यका पालन उन्होंने नहीं किया। उन्होंने सजग अवस्थामें दिन दोपहरको निरपराधिनी और विश्वास रखनेवाली सीताको वनवास दिया, इसी लिए वे उसे पानेके योग्य नहीं। यह सत्य है कि रामने यज्ञके अवसरपर सीताकी सुवर्णप्रतिमा बनवाकर रक्खी, यह सत्य है कि वे सीताके लिए रोते हुए वन-वन फिरे, लेकिन यह भी सत्य है कि उन्होंने सीताके साथ न्याय-विचार नहीं किया। अतः वे सीताको पानेके योग्य नहीं। वाल्मीकिने बहुत ही

उचित किया। किन्तु भवभूतिने अपने नाटकमें यह मिलन कराकर एक साथ ही काव्य-कला और Poetic justice (काव्य-न्याय) दोनोंकी हत्या कर डाली।

कोई कोई यह कह सकते हैं कि सीताने अपने पातिव्रत्यके प्रभावसे रामको फिर पाया। हमारी समझमें यह उक्ति सीताके प्रति घोरतर अपवाद है। यदि स्वयं सीताने उनको गँवा दिया तो बतलाना होगा कि किस दोषसे गँवा दिया। उसका तो कोई दोष ही न था। और फिर पा लिया तो बतलाइए कि खास कर किस गुणसे पा लिया। इस जगह पर दोषी राम हैं, सीता नहीं। अपने ही दोषसे राम अपनी पत्नीको गँवा बैठे। विचार करके देखा जाय तो इस तरहका अपवाद केवल सीताके प्रति ही नहीं होता—यह दुर्नाम समस्त धर्मनीतिके प्रति होता है। यह वही बात है, जिसे अँगरेजीमें adding insult to injury * कहते हैं।

जो लोग स्त्रीजातिको मर्दके घरके असबाबकी तरह समझते हैं, जो नारीको एक स्वाधीन अस्तित्व देनेके लिए प्रस्तुत नहीं हैं, और जो रमणीको केवल काम-दृष्टिसे देखते हैं, वे मेरी पूर्वोक्त बातको नहीं समझ सकेंगे। और जो लोग समझते हैं, पति-पत्नीका यही सम्बन्ध है कि स्वामीके चरित्रहीन कुचाली होनेपर भी स्त्री उसके चरणोंमें पुष्पांजलि देगी, और स्त्री अगर एक वार भ्रष्ट हो गई तो स्वामी उसके सिरपर कुठाराघात करेगा, उन्हें समझानेके लिए भी मेरा यह प्रयास नहीं है।

मैं स्वीकार करता हूँ कि स्त्रीजाति दुर्बल, असहाय और कोमल-प्रकृति होती है; उसे पुरुषके अधीन होकर रहना ही पड़ेगा। मैं यह भी जानता हूँ कि पुरुषकी चरित्रशुद्धिकी अपेक्षा स्त्रीका सतीत्व

* जो स्वयं त्रस्त है, उसीका अयश फैलाना।

दस गुना अधिक आवश्यक है। किन्तु फिर भी नारीका एक स्वतन्त्र अस्तित्व है। कमसे कम भारतवर्षमें--जहाँ अनेक नारियोंने ज्योतिषके ग्रंथ लिखे हैं, राज्यशासन किया है, और युद्ध किये हैं—हम नारी-जातिको घरकी अन्य सामग्रीके बीच नहीं डाल सकते, उसे उपभोग्य वस्तुमात्र नहीं समझ सकते। बल्कि मैं तो नारीको अनेक बातोंमें पुरुषकी अपेक्षा श्रेष्ठ समझता हूँ। शारीरिक बल या मानसिक उद्यममें नारी अवश्य पुरुषकी अपेक्षा हीन होती है, लेकिन सेवा और सहन-शीलतामें, स्नेह और स्वार्थत्यागमें, धर्मके अनुराग और चरित्रके माहात्म्यमें नारी पुरुषकी अपेक्षा सर्वथा श्रेष्ठ है। नारीके दुर्बल होनेके कारण ही पुरुष उसके ऊपर सदा अत्याचार-अविचार किया करते हैं।

सभ्यताके अभ्युदयके साथ साथ पुरुषजाति स्त्रीजातिका अधिक सम्मान करने लगी है। क्योंकि सभ्यताकी वृद्धिके साथ साथ पुरुषोंमें क्रमशः महती प्रवृत्तियोंका—ऊँचे विचारोंका—जन्म होता जा रहा है। जब अपनी मुट्ठीमें आये हुए शत्रुके प्रति भी सभ्यजाति सदय व्यवहार करती है, तब जो जीवनसंगिनी, घरकी ज्योति और विपत्तिमें सहायता पहुँचा-नेवाली अर्धांगिनी—सहधर्मिणी है, वह अपनी मुट्ठीमें है, केवल इसी कारण क्या सभ्य पुरुष उसके साथ दयापूर्ण व्यवहार नहीं करेगा? अनेक मनीषी मनुष्योंके मतमें, नारीजातिके प्रति सम्मान दिखला-नेकी मात्रासे ही किसी जातिकी जातीय सभ्यताकी श्रेष्ठता मापी जा सकती है। जिस समय यह आर्यजाति जातीय उन्नतिकी पराकाष्ठाको पहुँच गई थी, उस समय इस जातिके मर्द भी स्त्रियोंके प्रति गहरा सम्मान दिखलाते थे। इस बातके अनेकानेक निदर्शन हमें इस भवभूतिके नाटकमें ही जगह जगह मिलते हैं। रामचंद्र 'देवी' कह कर सीताको संबोधन करते हैं, और जब सीता कोई अभिलाषा प्रकट करती है, तब राम

कहते हैं—"आज्ञापय।" (आज्ञा करो।) इससे आगे सभ्य अँगरेज़ लोग भी नहीं जा सके, और न जा ही सकते हैं। यह सम्मानकी पराकाष्ठा है। अब उसी आर्य जातिके किसी वंशधरके मनमें अगर ऐसी धारणा हो कि पुरुष चाहे स्त्रीजातिके प्रति स्वामीके कर्तव्यका पालन करे और चाहे न करे, कुछ हानि नहीं, दोनों तरह काम चल सकता है, तो मैं अवश्य कहूँगा—आज इस जातिका बहुत ही बड़ा दुर्दिन है!

रामकी सेनाके साथ लवका युद्ध भवभूतिने पद्मपुराणके पाताल-खंडसे लिया है। रंगमञ्चमें युद्धका दृश्य नहीं दिखाया जाता, इसी कारण भवभूतिने विद्याधरोंकी बातचीतमें ही उस युद्धका विस्तृत वर्णन कर दिया है। भवभूतिने इस नाटकमें कवित्वके हिसाबसे, कवित्वशक्ति दिखानेके लिए, इस युद्धकी अवतारणा की है। यद्यपि नाटकत्वके हिसाबसे इस नाटकमें युद्धकी अवतारणाका कोई प्रयोजन नहीं था; किन्तु कवित्वके हिसाबसे यह युद्धवर्णन अमूल्य है! आगेके परिच्छेदमें उसका सौन्दर्य दिखाया जायगा।

हमें इन दोनों नाटकोंके कथाभागमें विलक्षण सादृश्य देख पड़ता है। पहले तो दोनों ही नाटकोंमें राजाके प्रणयकी कथा है। दूसरे, दोनों ही नाटकोंकी प्रणयिनियाँ या नायिकायें अमानुषी-संभवा हैं—अर्थात् दोनोंकी मातायें मनुष्यजातिकी नहीं हैं। इसके बाद दोनों ही नाटकोंके नायकोंने नायिकाओंको त्याग दिया है। दोनों ही नाटकोंमें त्यागी हुई नायिकायें दैवशक्तिके बलसे अपने मात्रालयोंमें पहुँचकर रही हैं—शकुन्तला हेमकूट पर्वतपर और सीता रसातलमें। दोनों ही नाटकोंमें वियोगके बाद नायिकाओंके पुत्र हुए, और वे पुत्र ही मिलनके कारण हुए, और अन्तको नायक-नायिका दोनोंका मिलन हो गया।

किन्तु दोनों नाटकोंमें सादृश्यकी अपेक्षा अलगाव ही अधिक है। शकुन्तला नाटकमें हम देखते हैं कि एक कामुक राजा शकुन्तलाका रूप देखकर पागल सा हो गया है; उधर उत्तररामचरितमें एक कर्तव्यपरायण राजा सीताके गुणोंपर मुग्ध है। एक नाटकका विषय है, प्रणयका प्रथम उद्दाम उच्छ्वास, और दूसरे नाटकका विषय है, बहुत दिनों तक साथ रहनेसे उत्पन्न हुए प्रणयका गंभीर निर्भर-भाव। एकमें राजा कुछ दिनोंमें ही नायिकाको भूल जाते हैं, और दूसरेमें वियोगकी अवस्थामें नायकका हृदय सीताकी स्मृतिसे परिपूर्ण देख पड़ता है। एक राजाके बहुतसी रानियाँ हैं, और दूसरा राजा स्त्रीको वनवास देकर भी अन्य पत्नीको नहीं ग्रहण करता।

नायिकाओंके सम्बन्धमें भी उक्त दोनोंमें बहुत कुछ असादृश्य है। पहले अवस्थाको लीजिए—शकुन्तला युवती है, सीता प्रौढा है। फिर शकुन्तला तापसी है, सीता रानी है। शकुन्तला उद्दाम-प्रवृत्तिसे चंचल है, राजाको देखते ही रीझ गई, कण्वमुनिकी अनुमतिके लिए अपेक्षा करनेकी देर भी उसे असह्य हो गई; किन्तु सीता धीर, अटल विश्वास रखनेवाली और रामकी भुजाओंका आश्रय पाकर ही अपनेको कृतार्थ समझती है। शकुन्तला गर्विता है, सीता भय-विह्वला है। वास्तवमें शकुन्तला तपस्विनी होकर भी गृहस्थ है, और सीता गृहस्थ होकर भी संन्यासिनी है।

संक्षेपमें यह कहा जा सकता है कि अभिज्ञान-शकुन्तलके नायक-नायिका यथार्थमें कामुक और कामुकी हैं और उत्तरचरितके नायक-नायिका देव-देवी हैं।

दूसरा परिच्छेद ।

चरित्र-चित्रण ।

१–दुष्यन्त और राम ।

पहलेके परिच्छेदमें कह चुके हैं कि महाभारतके दुष्यन्त एक भीरु, लंपट और मिथ्यावादी राजा हैं। उनके राजकीय गुणोंमें कोई विशेषता नहीं है। उनमें जो गुण थे, वे प्रायः सभी राजाओंमें हुआ करते थे। वे शिकारके शौकीन, कामसहिष्णु, और रणशास्त्रविशारद वीर थे। किन्तु उन्होंने रघुकी तरह दिग्विजय नहीं किया, अर्जुनकी तरह समस्त कौरव-सेनाको परास्त भी नहीं किया। दुष्यन्तने भीष्मकी सी कोई प्रतिज्ञा नहीं की। वे युधिष्ठिरकी तरह सत्यवादी नहीं थे, कर्णकी तरह दानी नहीं थे, और भीमकी तरह बली नहीं थे। उनमें लक्ष्मणका सा स्वार्थत्याग और विदुरका सा तेज नहीं था। अर्थात् दुष्यन्त एक अति साधारण राजा थे।

कालिदासने अपने इस नाटकमें दुष्यन्तको बहुत ऊपर उठाया है, बहुत बचाया है; तो भी वास्तवमें वे एक निर्दोष-चरित्र नहीं बना सके। राजा दुष्यन्तका शरीर सुगठित पेशियोंवाला और विशाल अवश्य है, और वे शिकारके शौकीन भी अवश्य हैं—

> "अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरकर्मा,
> रविकिरणसहिष्णुः स्वेदलेशैरभिन्नः।
> अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं,
> गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति॥"

[राजा दुष्यन्त करारी धूपको सहते हुए लगातार धनुषकी डोरी खींचकर प्राणिहिंसारूप क्रूर कर्म कर रहे हैं। करारी धूपमें दौड़ने पर भी उनके शरीरमें पसीनेकी बूँदें नहीं निकली हैं। इन सब कारणोंसे उनका शरीर क्षीण होनेपर भी अत्यन्त विस्तृत, अर्थात् लंबा चौड़ा, होनेके कारण क्षीण नहीं प्रतीत होता—उसकी कृशता अलक्ष्य है। वे पर्वतपर विचरनेवाले हाथीकी तरह महासार-युक्त बलिष्ठ जान पड़ते हैं।]

किन्तु इससे क्या प्रमाणित होता है ? इससे इतना ही प्रमाणित होता है कि वे विलासमें मग्न होकर दिनरात अन्तःपुरमें नहीं रहते—श्रम कर सकते हैं और कष्ट सह सकते हैं। किन्तु यह दोषहीनता गुण नहीं है। इस श्रम सहनेके स्वभावसे उन्होंने कोई महत् कार्य नहीं किया। शिकार करते हैं, सो भी बाघ या भालूका नहीं, भागते हुए मृगोंका। और उस मृगयाको मनु आदि शास्त्रकारोंने एक व्यसन ही बतलाया है, जिसके लिए राजाके आगे सेनापति इस प्रकार वकालत करते हैं—

> " मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्साहयोग्यं वपुः,
> सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः।
> उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिद्ध्यन्ति लक्ष्ये चले,
> मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः॥ "

[शिकार करनेसे मेदा छँट जाती है, जिससे उदर कृश रहता है, तोंद नहीं बढ़ती। उसीसे शरीर हलका और मन उत्साहसे परिपूर्ण रहता है। शिकारके समय प्राणियोंके मनमें भय और क्रोधका संचार होनेपर उनके चित्तमें कैसा विकार उत्पन्न होता है, इसका अनुभव प्राप्त होता है। फिर शिकारमें चल-लक्ष्य-भेदका अभ्यास होता है,

जो धनुर्धरोंके लिए एक उत्कर्षकी बात समझी जाती है। अतएव (मनु आदि शास्त्रकारोंने) मृगयाको जो व्यसन कहा है सो मिथ्या ही प्रतीत होता है। ऐसा मनोविनोद और किसी काममें नहीं होता।]

किन्तु यह बहुत ही क्षीण युक्ति है। मृगयामें प्राणियोंके चित्त-विकारके संबंधमें जैसा ज्ञान होता है, उसका कोई विशेष मूल्य नहीं है। डार्विन (Darwin) या जान लबक (Lubbuck) ने मृगयाके द्वारा इतर प्राणियोंके चित्तविकार आदिका ज्ञान नहीं प्राप्त किया—स्वयं पर्यवेक्षणके द्वारा उन्हें उक्त बातोंका ज्ञान प्राप्त हुआ था। मृगयामें मनुष्यकी मेदा छँटनेसे उदर कृश अवश्य होता है, किन्तु प्राणियोंकी हत्या न करके भी अनेक प्रकारके अन्य व्यायामों (कसरतों) के द्वारा वही बात हो सकती है, और पृथ्वीपर मनोविनोदके अन्य उपायोंका भी अभाव नहीं है। वास्तवमें सेनापति अगर ये युक्तियाँ न पेश करता, तो भी नाटकके सौन्दर्यकी कुछ हानि न होती।

इसके बाद कालिदासके दुष्यन्तको राक्षसोंके अत्याचारोंका निवा-रण करनेके लिए कण्वमुनिके आश्रममें कुछ दिन रहनेका आमन्त्रण अवश्य मिलता है; लेकिन ठीक इसीलिए उन्होंने उस आश्रममें रहना स्वीकार किया हो, सो बात नहीं है। उनका असल मतलब और प्रकारका था। विदूषकने ठीक ही कहा था—"इस समय यह आपके अनुकूल गल-हस्त है।" (एसा दाणिं भअदो अनुऊलो गलहत्थो।)

उसके बाद, राजा बीच बीचमें हुंकार छोड़ते हैं सही, जैसे तृतीय अंकके अन्तमें—"**भो भोस्तपस्विनः मा भैष्ट मा भैष्ट अयमहमागत एव**" [हे तपस्विगण! डरो नहीं, डरो नहीं! यह लो, मैं आ पहुँचा।] किन्तु वह शौर्य शरदृतुके मेघके समान केवल गरजता है, बरसता नहीं। पुस्तक भरमें उनकी किसी वीरताका उल्लेख नहीं है, केवल

हुंकार मात्र सुन पड़ती है! केवल सातवें अंकमें एक बार देखते है कि वे दानव-दमन करके स्वर्गसे लौट रहे हैं। किन्तु मातलिने उसका जैसा वर्णन किया है, वह दुष्यन्तके लिए कोई बड़े गौरवकी बात नहीं है। मातलि कहता है—

"सख्युस्ते स किल शतक्रतोरवध्य—
स्तस्य त्वं रणशिरसि स्मृतो निहन्ता।
उच्छेत्तुं प्रभवति यन्नसप्तसप्ति-
स्तन्नैशं तिमिरमपाकरोति चन्द्रः॥"

[वे दानव तुम्हारे सखा इन्द्रके लिए अवध्य हैं; युद्धक्षेत्रमें तुम्हारे ही हाथसे उनकी मौत बदी है। जिस रात्रिके अन्धकारको सूर्यनारायण नहीं दूर कर सकते, उसे चन्द्रमा हटाते हैं।]

यह बात नहीं थी कि देवराज इन्द्र उन दानवोंका वध नहीं कर सकते थे—नहीं, वे देवराजके अवध्य थे—जैसे गोजाति हिन्दुओंके लिए अवध्य है। और "देवराजका पराक्रम सूर्यके समान है, और दुष्यन्तका विक्रम चन्द्रमाके सदृश है," ऐसे स्तोक वाक्यको मातलि अगर मुँहसे न निकालता ऊह्य ही रखता, तो शायद राजा दुष्यन्त और-अधिक सन्तुष्ट होते। यह सच है कि इन्द्रने स्वर्गकी प्रकाश्यसभामें दुष्यन्तके प्रति बहुत सम्मान दिखाया था, किन्तु वह इन्द्रका सौजन्य मात्र था।

दुष्यन्तमें और एक गुण यह है कि वे धर्मशास्त्रों और ब्राह्मणोंके वचनोंपर आस्था रखते थे। किन्तु वैसी आस्था भारतके सभी लोगोंमें थी। उसमें विशेष योग्यताकी कोई बात नहीं है। बल्कि हम देखते हैं, कि दुष्यन्तने महर्षिके आश्रममें अतिथि होकर गुप्तरूपसे जो शकुन्तलाके साथ विवाह किया, सो ऋषियोंके साथ एक भारी विश्वासघात-

कताका काम किया, और एक महर्षिके पवित्र आश्रमको कलुषित कर डाला। दुर्वासाको उचित था कि वे दुष्यन्तको शाप देते। राजाके द्वारा प्रतारित शकुन्तलाको वे क्षमा भी कर सकते थे।

उसके बाद, दुष्यन्तने अपनी माताकी आज्ञाका पालन अवश्य किया, लेकिन अपने सखा माधव्यको भेजकर किया। "**सखे माधव्य, त्वमप्यम्बाभिः पुत्र इव गृहीतः**" (मित्र माधव्य, तुमको भी माताजीने पुत्ररूपसे स्वीकार किया है, अर्थात् तुमको भी वे अपना पुत्र ही मानती हैं) यह कहकर उन्होंने उस अप्रीतिकर कार्यका भार देकर माधव्यको उधर भेज दिया, और आप खुद चले "**तपोवनरक्षार्थम्**" (तपोवनकी रक्षाके लिए)। नहीं—यह मिथ्या बहाना है। वे चले शकुन्तलाके साथ प्रेमसंभाषण करनेके लिए। इस द्वितीय अंकमें ही हमें राजाकी सत्यवादिताका परिचय मिल जाता है। उन्होंने अपने वयस्यको समझाया है—

"**क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो मृगशावैः सह वर्द्धितो जनः।**
परिहासविजल्पितं सखे परमार्थेन न गृह्यतां वचः॥"

[कहाँ सब कलाओंसे अभिज्ञ नागरिक पुरुष हम लोग, और कहाँ वे लोग, जिनके हृदयमें अभी कामके भावका आविर्भाव भी नहीं हुआ, और जो मृगोंके बच्चोंके साथ बढ़े और पले हैं? अतएव मित्र, मैंने अभी जो तुमसे कहा, सो सब दिल्लगी थी। उसे तुम सच न मान लेना।]

राजाके मनमें अभीसे रानियोंकी डाह और भर्त्सना (झिड़कियों) का भय उत्पन्न हो गया है। कालिदास लाख ढकें, हजार रंग चढ़ावें, पर मनका पाप छुप नहीं सकता। कालिदास महाकवि ठहरे। इस मामलेसे मनकी अवस्था जो होगी, वह उन्हें दिखानी ही पड़ेगी। जो कुछ अवश्यंभावी है, वह उनकी लेखनीके मुखसे अवश्य ही निकलेगा।

हम प्रथम अंकमें देखते हैं, राजा अपना यथार्थ परिचय न दे कर शकुन्तलाके सामने झूठ बोल रहे हैं। उन्होंने चोरकी तरह छिपकर सब सुन लिया, और जो कुछ बाकी रह गया, वह भी प्रश्न करके जान लिया! यहाँ पर राजाके छिपकर सुननेमें और मिथ्या परिचय देनेमें कौनसा अच्छा उद्देश्य रह सकता है? लोग किसी विशेष प्रयोजनके बिना प्रवञ्चना नहीं करते। राजाका उद्देश्य शायद शकुन्तलाको थोड़ासा जाँचना था। मैं महाराज हूँ, यह बात एकाएक कह देनेसे शायद शकुन्तला अच्छी तरह जी खोल कर बातचीत नहीं करेगी। अतएव विवाहके पहले कुछ दिल्लगी करनी चाहिए—राजाका शायद यही उद्देश्य था।

कालिदासके दुष्यन्तके चरित्रमें हम यह एक प्रधान गुण देख पाते हैं कि वे धर्मभीरु हैं। यहाँतक कि जो उनके प्रधान कलंककी बात—शकुन्तलाका प्रत्याख्यान—है, उसका भी कारण कालिदासने धर्मभय दिखलाया है। पञ्चम अंकमें, जब उन्होंने शकुन्तलाको अस्वीकार कर दिया है, उस समय वे कहते हैं—

"भोस्तपस्विनः, चिन्तयन्नपि न खलु स्वीकरणमत्र भवत्याः स्मरामि, तत्कथमिमामभिव्यक्तसत्वलक्षणामात्मानमक्षत्रियं मन्यमानः प्रतिपत्स्ये।"

[हे तपस्वियो, बहुत कुछ विचार कर मैंने देखा, मुझे याद नहीं पड़ता कि मैंने कभी इसको स्वीकार किया है। तब मैं किस तरह इस गर्भलक्षणवती कामिनीको ग्रहण करके अपनेको अक्षत्रिय बनाऊँ? अर्थात् यह क्षत्रियोंका काम नहीं है कि ऐसी वे अपरिचित गर्भवती पराई स्त्रीको अपने घरमें रख लें।]

किन्तु इससे उनके चरित्रका माहात्म्य कुछ विशेष नहीं बढ़ता। हर एक भले आदमीका आचरण ऐसा ही होता है। सुन्दरी रमणी

देखते ही जिसके कामका उद्रेक होता है, और कामका उद्रेक होनेपर भी जो व्यक्ति उसे दबा नहीं सकता, वह मनुष्य कहलाने योग्य नहीं, पशु है। कालिदासके ही मतसे, रघुवंशके हर एक राजाका मन पराई स्त्रीकी ओरसे विमुख था—"**मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्तिः ।**" पर इस तरह परस्त्रीविमुख होनेमें अहंकार करनेकी कोई बात नहीं है। —बायरन (Byron) के डान जुअन (Donguon) संसारमें बिरले ही हैं। प्रायः प्रत्येक सभ्य व्यक्ति ही पराई स्त्रीको माता जानता है। ऐसा न होना ही निंदाकी बात है, पर ऐसा होनेमें बड़ाईका विषय विशेष कुछ नहीं है।

कालिदासने अपने दुष्यन्तको कुछ एक मनोहर सद्गुणोंसे भूषित किया है।

पहला गुण तो यह है कि कालिदासने दुष्यन्तको एक श्रेष्ठ चित्र-कारके रूपमें अंकित किया है। छठे अंकमें राजा अपने हाथके लिखे हुए शकुन्तलाके चित्रको देखकर, उत्कृष्ट चित्रका लक्षण क्या है, यह अपने मित्र विदूषकसे यों कहते हैं—

"**अस्यास्तुङ्गमिव स्तनद्वयमिदं निम्नेव नाभिः स्थिता,**
दृश्यन्ते विषमोन्नताश्च वलयो भित्तौसमायामपि ।
अङ्के च प्रतिभाति मार्दवमिदं स्निग्धप्रभावाच्चिरं,
प्रेम्णा मन्मुखमीषदीक्षत इव स्मेरा च वक्तीव माम् ॥"

[चित्रकी तह समतल होनेपर भी इस शकुन्तलाके दोनों स्तन उठे हुएसे, नाभि गहरीसी और वहाँकी त्रिवली विषम और उभरी हुई सी देख पड़ती है। और तैलके रोगनके रंगकी शक्तिसे अंगोंमें कोम लताका भाव स्थायी सा भासित होता है। यह जैसे प्रेमपूर्वक मेरे

मुखकी ओर कटाक्ष-दृष्टिसे देख रही है, और मुसका कर मानों मुझसे कुछ कहना चाहती है।]

यह चित्र देखकर मिश्रकेशी अप्सराको—जो अपनी मायासे अदृश्य होकर राजाकी सब दशा देख रही है—चित्र-लिखित शकुन्तलामें असली शकुन्तलाका भ्रम हो गया। अन्तको चित्र देखते-देखते स्वयं चित्र-कारको, राजाको, वह भ्रम हो गया और वे उन्मत्तसे हो उठे। वे शकुन्तलामुखकमलमधुपानके अभिलाषी चित्रलिखित भ्रमरको देखकर कहते हैं—

"अयि भोः कुसुमलताप्रियातिथे, किमत्र परिपतनखेदमनु-भवसि?

एषा कुसुमनिषण्णा तृषिताऽपि सती भवन्तमनुरक्ता।
प्रतिपालयति मधुकरी न खलु मधु त्वां विना पिबति॥"

[अजी ओ पुष्पलताके प्यारे अतिथि! यहाँ उड़कर बैठनेके कष्टका अनुभव क्यों करते हो?—इस कुसुमपर बैठी हुई मधुकरी तुमपर अनु-रक्त होनेके कारण, प्यासी होनेपर भी, तुम्हारी राह देख रही है; तुम्हारे बिना मधुपान नहीं करती।]

इतनेपर भी भ्रमरके न उड़नेसे राजाको क्रोध हो आया। वे कहते हैं—

"भो न मे शासने तिष्ठसि श्रूयतां तर्हि संप्रति हि—
अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयं,
पीतं मया सदयमेव रतोत्सवेषु।
बिम्बाधरं दशसि चेद्भ्रमर प्रियाया,
त्वां कारयामि कमलोदरबन्धनस्थम्॥

[अरे तू मेरी आज्ञा नहीं मानता? तो अब सुन हे भ्रमर, मैंने सुरतके समय जिस अमलिन तरुपल्लवके समान रंगीन और मनको

लुभानेवाले प्रियाके बिम्बतुल्य अधरको सदयभावसे पिया—चूसा—है, उसमें अगर तू निष्ठुररूपसे दंशन करेगा, तो मैं तुझे यह दण्ड दूँगा कि कमलके भीतर कैद कर दूँगा ।)

विदूषकने देखा, राजाके चित्तको विभ्रम हो गया है । इसीसे डर कर उसने राजाको समझाया—" भो चित्तं क्खु एदं " (अर्थात्—महाराज, यह तो चित्र है ।)

तब राजाका मोह दूर हुआ । वे बोले—" कथं चित्रं !" (क्या, यह चित्र है ?)

जिसमें चित्र अंकित करनेकी ऐसी निपुणता है, वह अवश्य ही कोई साधारण चित्रकार नहीं है ।

पञ्चम अंकमें, एक अपूर्व मधुर श्लोकमें, राजाके चरित्रका और एक पहलू देख पड़ता है । शन्कुतलाके साथ ब्याह करनेके बाद नगरमें आकर राजा उसको भूल गये हैं । वे राजसभामें बैठे बैठे नेपथ्यमें संगीत सुन रहे हैं और सोचते हैं—

" रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्,
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं,
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥ "

[ये सब जीव सुखी रहने पर भी मनोहर वस्तु देख कर और मधुर शब्द सुनकर जो उत्कण्ठितचित्त होते हैं, सो वे निश्चय ही अपने मनमें विस्मृत पूर्वजन्मके स्थिर भावयुक्त सुहृद्भावको स्मरण करते हैं ।]

राजाको, जैसे कुछ मनमें आता है, मगर अच्छी तरह स्मरण नहीं आता । वे अगाध सुखमें एक अगाध विषादका अनुभव करते हैं ।

मगर उसका अनुभव क्यों करते हैं, यह कुछ समझमें नहीं आता। इस एक श्लोकमें शकुन्तलाके प्रति उनका ढका हुआ प्रेम और उनका संगीत तत्त्वज्ञान सम्मिलित रूपमें देख पड़ता है। इस प्रेमने दुर्वासाके अभिशापको भी ढक दिया है। यह संगीत-तत्त्वज्ञान कविके कवित्वसे भी ऊपर चला गया है। चिन्ता और अनुभूति, विरह और मिलन, स्थिरता और उल्लास यहाँपर आकर सम्मिलित हो गये हैं। मानों लहराते हुए नील सागरके ऊपर प्रातःकालकी किरणें आकर पड़ी हैं, घने काले मेघके ऊपर पूर्णचन्द्र हँस रहा है, ललित चाँदनीके ऊपर वनश्रीकी परछाहीं आकर पड़ी है। शेक्सपियरने एक जगह पर कहा है—

" If music be the food of love, play on;
Give me excess of it, that surfeiting
The appetite may sicken and so die
That strain again; it had a dying fall
O it come per my ear like the sweet south,
That breathes upon a bank of violets
Stealing and giving odour."*

---

* अर्थात्—

यदि सङ्गीत प्रेम-तृष्णाका कर सकता अवसान,
तो उसकी ही चाह मुझे है, बन्द न हो यह तान।
यदि होगा आधिक्य, प्रेमकी मिट जावेगी भूख,
और यहीं सङ्गीत सुधा-रस भी जावेगा सूख।
आया यह कर्णोंपर उसका अन्तिम स्वर म्रियमाण,
मलयानिलने नवकुसुमोंका सौरभ किया प्रदान॥"

वाल्मीकिकी सीताके साथ भवभूतिकी तरल-कोमल सीताकी तुलना ही असंभव है। इनके साथ तुलना करनी हो तो आठवें हेनरीके द्वारा त्यागी गई कैथराइनकी उक्तिकी तुलना करनी चाहिए। यथा—

"Sir, I desire you do me right and justice
× × × Sir call to mind,
Upward of twenty years I have been blest
With many children by you; if in the course
And process of this time you can report
And prove it too against mine honour ought
My bond to wedlock or my love and duty
Against your sacred person, in God's name
Turn me away—
My lord! my lord! Iam a simple woman, much too weak
To oppose your cunning, yow'-re meak and humble mouthed.
You sign your place and calling in full seeming.
With meekness and humility; but your heart
Is crammed with arrogance, spleen and pride"*

---

* अर्थात्—

नाथ, चाहती हूँ तुम मेरा कर दो न्यायविचार,
बीस वर्ष तक रही सहचरी लेकर सेवा-भार।
इन वर्षोंमें, प्रभुवर, मेरी हुई कई सन्तान,
किया कभी क्या मैंने कुल-मर्यादाका अपमान॥
हुई धर्मसे च्युत अथवा क्या हटा आपसे ध्यान,
कह दो, नाथ, और तब मेरा कर दो प्रत्याख्यान।
वैसे तो अबला हूँ, मेरी है क्या इतनी शक्ति,
तुम हो नीतिनिपुण, कुछ कह दो है मुझमें पतिभक्ति॥
पर यह विनय, छोड़ दो, मिथ्या है सारा व्यवहार।
कलुषित हृदय आपका, यह तो कहता है संसार॥

रानी ओल्जी (Wolocy) से कहती है—

"I am about to weep; but thinking that Sir
We are a queen (or long have dreamed so) certain
The daughter of king, my drops of tears
I'll change to sparks of fire"†

यह सच है कि भवभूतिने लंकाविजयके बाद सीताका तेज दिखानेका महासुयोग नहीं पाया। किन्तु निर्वासनके समय और निर्वासनके अन्तमें, सीताका आत्माभिमान दिखानेका सुयोग उन्होंने पाया था, मगर उन्होंने उसे यों ही जाने दिया। रामके दिये हुए निर्वासनदण्डको सीताने किस भावसे ग्रहण किया, यह भवभूतिने बिल्कुल ही नहीं दिखलाया। और अन्तको तो उन्होंने चुपचाप ही राम-सीताका मिलन करा दिया।

किन्तु कालिदासने ऐसा एक भी सुयोग नहीं छोड़ा। प्रत्याख्यानके समय अनुनय-विनय निष्फल होनेपर शकुन्तलाने ज्वालामय व्यंग्य वचनोंसे उस प्रत्याख्यानका उत्तर दिया। मिलनके समय भी पुत्रने जब पूछा—"माता, ये कौन हैं?" तब उसने उत्तर दिया—"अपने भाग्यसे पूछो।" संपूर्ण शकुन्तला-नाटकका तत्त्व जैसे इसी जगह केन्द्रीभूत हो गया है। मर्त्य और स्वर्ग दोनों इसी जगह पर मिल गये हैं।

---

† अर्थात्—

रोती हूँ, पर हूँ मैं रानी (अथवा था विश्वास),
फिर भी हूँ राजाकी कन्या, हूँगी नहीं निराश।
अश्रुविन्दु जो निपतित होंगे इन नेत्रोंसे आज,
उनको ज्वालामय कर दूँगी, होगा दग्ध समाज॥

यह सच है कि कालिदासकी शकुन्तलामें कैथराइनकी ऐसी शान्त स्थिरता नहीं है, रानीपना नहीं है। शकुन्तलाके आचरणमें— पहले आशंका है, फिर अनुनय है, अन्तको अभिमान और क्रोध है। कैथराइनके आचरणमें युक्ति, गर्व और स्थिर गांभीर्यका एकत्र समावेश है। किन्तु यह भेद अवस्थाभेदके अनुसार संघटित हुआ है। शकुन्तला नवोढ़ा किशोरी है, उस समय तक रानीके आसन पर नहीं बैठी थी! उसमें रानीपना कैसे आ सकता! इसीसे उसकी उक्ति सरल और सर्वदा एक भावको व्यक्त करनेवाली है—या तो भय, या क्रोध या अनुनय-विनय। कैथराइन प्रौढ़ा और संसारकी अभिज्ञता रखनेवाली रानी है। उसके ये सब भावपरिचित और आयत्ताधीन हैं। उसके हृदयमें विभिन्न अनुभूतियाँ एकत्र मिलनेका समय और सुयोग पा चुकी थीं। इसीसे कैथराइनकी उक्ति मिश्र है। दुःख, क्रोध, अनुनय और आत्ममर्यादा एकत्र मिले हुए हैं, और हरएक लाइनमें वे एकत्र निहित हैं। कालिदासकी कल्पना और रचनामें कोई त्रुटि नहीं है। मगर भवभूति महासुयोग पाकर भी सीताका रानीपना प्रस्फुटित नहीं कर सके। कालिदासकी शकुन्तलाके साथ भवभूतिकी सीताकी तुलना संभव नहीं। शकुन्तला एक चरित्र है, सीता एक धारणा हैं। शकुन्तला सजीव नारी है, सीता एक पाषाणप्रतिमा हैं। शकुन्तला उमड़ी हुई नदी है, सीता स्वच्छ सरोवर हैं। कालिदासकी शकुन्तला हँसी है, रोई है, गिरी है, ऊपर उठी है, और उसने सहन किया है। किन्तु सीताने आदिसे अन्ततक केवल प्यार किया है। निर्वासनशल्य भी उनके उस अटल प्रेमको वेध नहीं सका, निष्ठुरता उस प्रेमको डिगा नहीं सकी। किन्तु उस प्रेमने कोई कार्य नहीं किया। वह प्रेम ज्योत्स्ना (चाँदनी) की तरह गतिहीन है, 'सूरजमुखी' की

तरह परमुखापेक्षी है, विरहकी तरह करुण है और हँसीकी तरह सुंदर है। भवभूतिने नाटकका विषय चुना था—चरम। किन्तु वह विषय इतना उच्च है कि कविकी कल्पना वहाँ तक नहीं पहुँचती। उन्होंने एक अपूर्व स्वर्गीयमूर्ति अवश्य गढ़ी, लेकिन उसकी प्राण-प्रतिष्ठा वे नहीं कर सके, उसमें जान नहीं डाल सके। अगर वे ऐसा कर सकते, इस देवीको जीवनदान कर सकते, तो जगत्में यह एक ऐसा कार्य होता, जैसा आजतक कहीं भी कभी नहीं हुआ था। उस मूर्तिको देखकर सारा ब्रह्माण्ड उन्मत्त सा होकर 'मा-मा' कहकर उसके चरणोंपर लोटता, और उसकी चरणरजका एक कण पानेके लिए जान देनेमें भी नहीं हिचकता। कुमारसंभवकी गौरी इसी तरहका एक चित्र हैं, किन्तु ये सीता उनसे भी बढ़ जातीं। भवभूतिकी सीता जैसे किसी हेमन्तऋतुके उज्ज्वल प्रभातका शेफालि-सुरभित (हरसिंगारके फूलोंकी सुगन्धसे युक्त) स्वप्न हैं। किन्तु वह स्वप्न स्वप्न ही रह गया।

अन्यान्य चरित्र।

अगर यह कहा जाय कि इन दोनों नाटकोंमें अन्यान्य चरित्र हैं ही नहीं, तो कुछ असंगत न होगा। शकुन्तला नाटकमें राजाके पक्षमें विदूषक, कञ्चुकी, प्रतीहारी, मातलि इत्यादि हैं। और शकुन्तलाके पक्षमें उनके पिता कण्व, सहचरी प्रियम्वदा और अनसूया, अभिभाविका गौतमी और कण्वके शिष्य शार्ङ्गरव तथा शारद्वत हैं। एक ओर संसार है, दूसरी ओर आश्रम है। किन्तु ये सब पात्र एक तरहसे नाटकके दर्शक मात्र हैं। किसीने किसी विशेष भावसे घटनाका संयोग या वियोग नहीं किया। इनके न रहनेपर भी नाटकका काम एक तरहसे चला ही जाता।

शकुन्तलानाटकमें कण्व मुनि केवल चौथे अंकमें दिखाई दिये हैं। कैसे सन्तान-वत्सल, कैसे प्रशान्त और कैसे प्रियभाषी हैं! वे शकुन्तलाको पतिके घर भेजनेके समय मातृहीन बालककी तरह रोते हैं, और पिताकी तरह आशीर्वाद देते हैं। शकुन्तलाने बिना उनकी अनुमतिके दुष्यन्तको आत्मसमर्पण कर दिया, तो भी उन्हें क्रोध नहीं आया—अभिमान नहीं हुआ। वे केवल स्नेह और आशीर्वादसे परिपूर्ण हैं।

अनसूया और प्रियंवदा शकुन्तलाकी सहेली हैं। वे परिहास-रसिका, स्नेहमयी और आत्मचिन्ताशून्य हैं। वे इस नाटकमें केवल 'घटक' का काम करती हैं।

कण्वकी धर्मभगिनी गौतमी एक तेजस्विनी ऋषिकन्या हैं। उन्हें दुष्यन्त और शकुन्तलाके आचरणसे क्षोभ है। शारद्वत और शार्ङ्गरव तेजस्वी ऋषिशिष्य हैं। शकुन्तला और दुष्यन्तके प्रति उनका तिरस्कार तीव्र और छुरेकी धाराके समान तेज है।

विदूषककी रसिकतामें खूब रस है। उसका 'अनुकूल गलहस्त' चमत्कारपूर्ण और अद्भुत है। उसके व्यवहार और बातचीतसे जान पड़ता है कि वह कोरा विदूषक ही नहीं, राजाका सच्चा हितैषी मित्र है।

उधर उत्तरचरितमें लक्ष्मण, लव, कुश, चंद्रकेतु, शंबूक, वाल्मीकि, जनक, वासंती, आत्रेयी, तमसा और मुरला हैं। इनमेंसे एक चरित्र भी प्रस्फुटित नहीं हुआ। केवल लवके चरित्रमें अद्भुत शूरता देख पड़ती है।

"**कथमनुकम्पते माम्,**" (मुझपर यह दया कैसे करते हैं। अर्थात् मुझे दयाका पात्र बालकमात्र कैसे समझते हैं।) लवकी इस एक बातमें ही, दर्पणमें प्रतिबिम्बकी तरह, उसका क्षत्रियत्वका अभिमान और तेज स्पष्ट दिखलाई देता है।

चंद्रकेतु उदारहृदय और वीर है। दोनों ही अंकोंमें हमको उसकी सौम्य मूर्ति और मंदमुसकानसे मनोहर मुखमण्डल देख पड़ता है। लक्ष्मण भ्रातृभक्त बंधुवत्सल भ्राता हैं। जनक कन्यावत्सल पिता हैं। वाल्मीकि परशोककातर महर्षि हैं। वे पराया दुःख-कष्ट नहीं देख सकते। शंबूक वनकी सैर करानेवाला पथप्रदर्शक है। वासन्ती, आत्रेयी, तमसा और मुरला---ये सीताके दुःखसे दुःखित हैं। इनमें वासन्ती कुछ तेजस्विनी है। सीताकी व्यथा मानों खुद उसीकी व्यथा है। किन्तु उसमें सीताका अभिमान नहीं है। वह मानों सीताने वासन्तीको दिया है। कौशल्या और अरुन्धतीमें कोई विशेषता नहीं।

लक्ष्मण पहले अंकमें चित्र दिखाकर और सातवें अंकमें सीताका आशीर्वाद लेकर विदा हो गये हैं। चन्द्रकेतु लवके साथ युद्ध करके और लवको रामका परिचय देकर छुट्टी पागये हैं। लवने युद्ध किया, और कुशने रामके दरबारमें रामायण-गान गाकर सुनाया। शंबूक जनस्थानमें रामको वहाँकी सैर कराता हुआ घूमा है। जनक, अरुन्धती और कौशल्याने सीताके दुःखसे दुखी होकर रुदन किया है। वासन्तीने रामको पहलेकी याद दिला दिलाकर जर्जर किया है। आत्रेयीने वासंतीको कुछ खबरें सुनाई हैं। दुर्मुख दूतने रामको सीताके अपवादका वृत्तान्त जताया है। तमसा और मुरलाने सीता देवीको रामके जनस्थानमें आनेकी खबर दी है। तमसा वहाँ सीताके साथ रही है। इस नाटकमें इनका कार्य यहीं पर समाप्त हो गया है।

ॐ

तीसरा परिच्छेद ।

नाटकत्व ।

महाकाव्य, नाटक और उपन्यास, तीनोंकी रचना मनुष्य-चरित्रको लेकर होती है । किन्तु इन तीनोंमें परस्पर बहुत भेद है ।

महाकाव्य एक या उससे अधिक चरित्र लेकर रचे जाते हैं। लेकिन महाकाव्यमें चरित्र-चित्रण प्रसंग मात्र है । कविका मुख्य उद्देश्य होता है उस प्रसंगक्रममें कवित्व दिखाना । महाकाव्योंमें वर्णन ही (जैसे प्रकृतिका वर्णन, घटनाओंका वर्णन, मनुष्यकी प्रवृत्तियोंका वर्णन) कविका प्रधान लक्ष्य होता है, चरित्र उपलक्षमात्र होते हैं। जैसे—रघुवंश है। इसमें यद्यपि कविने प्रसंगवश चरित्रोंकी अवतारणा की है, परन्तु उनका प्रधान उद्देश्य कुछ ' वर्णन ' करना है । जैसे—अजके विलापमें इन्दुमतीकी मृत्यु उपलक्षमात्र है । क्योंकि यह विलाप अजके सम्बन्धमें जैसे है, वैसे ही अन्य किसी प्रेमी स्वामीके सम्बन्धमें भी हो सकता है। वहाँ कविका उद्देश्य है, चरित्रकी कोई विशेषता न रखकर प्रियजनके वियोगमें शोकका वर्णन करना और उस वर्णनमें अपनी कवित्वशक्ति दिखाना ।

उपन्यासमें कई चरित्र लेकर एक मनोहर कहानीकी रचना करना ही ग्रन्थकारका मुख्य उद्देश्य होता है । उपन्यासका मनोहर होना उस कहानीकी विचित्रताके ऊपर ही प्रधानरूपसे निर्भर होता है ।

नाटक काव्य और उपन्यासके बीचकी चीज है । उसमें कवित्व भी चाहिए, और कहानीकी मनोहरता भी चाहिए। इसके सिवा उसके कुछ बँधे हुए नियम भी हैं ।

पहले तो, नाटकमें कथाभागका ऐक्य (unity of plot) चाहिए। एक नाटकमें केवल एक ही विषय प्रधान वर्णनीय होता है। अन्यान्य घटनाओंका उद्देश्य केवल उस विषयको प्रस्फुटित करना होता है।

उदाहरणके तौर पर कहा जा सकता है कि उपन्यासकी गति आकाशमें दौड़ते हुए छोटे छोटे मेघखंडोंकी सी होती है। उन सबकी गति एक ही ओर होती है, लेकिन एक दूसरेके अधीन नहीं होती। नाटककी गति नदीके प्रवाहकी ऐसी होती है— अन्यान्य उपनदियाँ उसमें आकर मिलती हैं, और उसे परिपुष्ट करती हैं। अथवा उपन्यासका आकार एक शाखाके समान होता है—चारों तरफ नाना शाखा-प्रशाखायें हैं, और वहीं उनकी विभिन्न परिणति हो जाती है। किन्तु नाटकका आकार मधुचक्र (ममाखीके छत्ते) के ऐसा होता है। उसे एक स्थानसे निकलकर, फिर विस्तृत होकर, अन्तको एक ही स्थानमें समाप्त होना चाहिए। नाटकका मुख्य विषय प्रेम हो तो उस नाटकको प्रेमके परिणाममें ही समाप्त करना होगा—जैसे रोमियो-जूलियट है। मुख्य विषय लोभ हो तो लोभके परिणाममें ही नाटक समाप्त करना होगा—जैसे मैकबेथ है। नाटकका विषय उच्चाशय हो, तो उसके परिणाममें ही नाटककी परिणति होगी—जैसे जूलियस-सीजर है। नाटकका आरंभ प्रतिहिंसासे हो, तो अंतको प्रतिहिंसाका ही फल दिखाना होगा—जैसे हैम्लेट है।

इसके सिवा नाटकका और एक नियम है। महाकाव्य या उपन्यासका वैसा कोई बँधा हुआ नियम नहीं है। नाटकमें, प्रत्येक घटनाकी सार्थकता चाहिए। नाटकके भीतर अवान्तर विषय लाकर नहीं रक्खे जा सकते। सभी घटनाओं या सभी विषयोंको नाटककी मुख्य घटनाके अनुकूल या प्रतिकूल होना चाहिए। नाटकमें ऐसी

कोई घटना या दृश्य नहीं होगा, जिसके न रहने पर भी नाटकका परिणाम वैसा ही दिखाया जा सकता हो । नाटककार अपने नाटकमें जितनी ही अधिक घटनाओंका समावेश कर सकता है, उतनी ही अधिक उसकी क्षमता प्रकट हो सकती है—और आख्यान भाग भी उतना ही मिश्र हो सकता है । लेकिन उन सब घटनाओंकी दृष्टि मूलघटनाकी ओर ही होनी चाहिए। ये या तो मूल घटनाको आगे बढ़ा देंगी या पीछे हटा देंगी। तभी वह नाटक होगा, अन्यथा नहीं । उपन्यासमें इस तरहका कोई नियम नहीं है। महाकाव्यमें भी घटनाओंकी एकाग्रता या सार्थकताका कुछ प्रयोजन नहीं है ।

कवित्व नाटकका एक अंग है। उपन्यासमें कवित्व न रहनेसे भी काम चल सकता है। नाटकमें चरित्र-चित्रणका होना आवश्यक है, पर काव्यमें चरित्र-चित्रण न होनेसे भी काम चल सकता है।

नाटकका और एक प्रधान नियम है, जो नाटकको काव्य और उपन्यास दोनोंसे अलग करता है। नाटकका कथाभाग घटनाओंके घात-प्रतिघातसे अग्रसर होता है। नाटकका मुख्य चरित्र कभी सरल-रेखामें नहीं जाता। जीवन एक ओर जारहा था, ऐसे ही समय धक्का लगकर उसकी गति दूसरी ओर फिर गई, उसके बाद फिर धक्का खाकर उसको दूसरी ही ओर फिरना पड़ा—नाटकमें यही दिखाना होता है। उपन्यास अथवा महाकाव्यमें इसका कुछ प्रयोजन नहीं। यह बात अवश्य ही होती है कि हरएक मनुष्यका जीवन, वह चाहे जितना सामान्य क्यों न हो, किसी-न-किसी ओर कुछ-न-कुछ धक्का पाता ही है। किसी भी मनुष्यका जीवन एकदम सरल-रेखामें नहीं जाता। एक आदमी खूब अच्छी तरह लिख-पढ़ रहा था, सहसा पिताकी मौत हो गई, उसे लिखना-पढ़ना छोड़ देना पड़ा। किसीने ब्याह किया,

उसके कई बच्चे हो गये, और तब उसे अर्थकष्टके कारण नौकरी या दासवृत्ति स्वीकार कर लेनी पड़ी। प्रायः प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें इस तरहकी घटनापरंपरायें देख पड़ती हैं। इसी कारण किसी भी व्यक्तिके जीवनका इतिहास लिखा जायगा तो वह अवश्य ही कुछ न कुछ नाटकका आकार धारण करेगा। किन्तु यथार्थ नाटकमें ये घटनायें जरा जोरदार होनी चाहिए। धक्का जितना अधिक और प्रबल होगा, उतना ही वह नाटकके लिए उपयुक्त उपकरण होगा।

कमसे कम ऐसा दिखाना चाहिए कि नाटकके सब प्रधान चरित्र बाधाको नाँघ रहे हैं, या नाँघनेकी चेष्टा कर रहे हैं। जिसमें केन्द्रीय चरित्र बाधाको नाँघता है, उस नाटकको अँगरेजीमें Comedy कॉमिडी कहते हैं। बाधा नाँघते ही वहीं पर उस नाटककी समाप्ति हो जाती है। जैसे—दोजनोंका विवाह अगर किसी भी नाटकका मुख्य विषय हो, तो जबतक अनेकप्रकारके विघ्न आकर उनके विवाहको संपन्न नहीं होने देते तभीतक वह नाटक चलता रहता है। इसके बाद ज्यों ही विवाहकार्य संपन्न हुआ कि यवनिकापतन हो जायगा।

अन्तमें, ऐसा भी हो सकता है कि बाधा न भी नाँघी जा सके; बाधा नाँघनेके पहले ही जीवनकी या घटनाकी समाप्ति हो जाय और दुःख दुःख ही रह जाय। ऐसे स्थलमें, अँगरेजीमें जिसे Tragedy ट्रेजिडी कहते हैं, उसकी सृष्टि होती है। जैसे ऊपर कहे गये उदाहरणमें मान लीजिए, अगर नायक या नायिकाकी, अथवा दोनोंकी मृत्यु हो जाय, या एक अथवा दोनों निरुद्देश हो जायँ। उसके बाद और कुछ कहनेको नहीं रह जाता। उस दशामें वहीं यवनिकापतन हो जायगा।

मतलब यह कि सुखकी और दुःखकी बाधा और शक्ति, चरित्र और बहिर्घटनाके संघर्षणसे नाटकका जन्म है। उसमें युद्ध चाहिए, वह

चाहे बाहरकी घटनाओंके साथ हो, और चाहे भीतरकी प्रवृत्तियोंके साथ हो।

जिस नाटकमें अन्तर्द्वन्द्व दिखाया जाता है, वही नाटक उच्च श्रेणीका होता है—जैसे हैम्लेट अथवा किंग लियर हैं। बहिर्घटनाओंके साथ युद्ध दिखाना अपेक्षाकृत निम्न श्रेणीके नाटककी सामग्री है। ऐसे नाटक हैं—उथेलो या मैकबेथ। उथेलोको इयागोने समझाया कि तेरी स्त्री भ्रष्टा है। वह मूर्ख वही समझ गया। उसके मनमें तनिक भी दुविधा नहीं आई। उथेलो नाटकमें केवल एक जगह पर उथेलोके मनमें दुविधा आई है। वह दुविधा स्त्रीहत्याके दृश्यमें देख पड़ती है। वहाँपर भी युद्ध प्रेम और ईर्षामें नहीं है—रूप-मोह और ईर्षामें है। मैकबेथमें जो कुछ दुविधा है, वह इस दुविधाकी अपेक्षा कहीं ऊँचे दर्जेकी है। डंकनकी हत्या करनेके पहले मैकबेथके हृदयमें जो युद्ध हुआ था, वह धर्म और अधर्ममें, आतिथ्य और लोभमें हुआ था। परन्तु किंग लियरका युद्ध और तरहका है, वह युद्ध ज्ञान और अज्ञानमें है, विश्वास और स्नेहमें है, अक्षमता और प्रवृत्तिमें है। हैम्लेटके मनमें जो युद्ध है वह आलस्य और इच्छामें प्रतिहिंसा और सन्देहमें है। यह युद्ध नाटकके आरंभसे लेकर अन्ततक होता रहा है।

यह भीतरी युद्ध सभी महानाटकोंमें है। कोई भी कवि प्रवृत्ति और प्रवृत्तिके संघातमें लहर उठा सके विना, विपरीत वायुके संघातसे प्रचण्ड बवंडर उठा सके विना, चमत्कारयुक्त नाटककी सृष्टि नहीं कर सकता।

अन्तर्विरोधके रहे बिना उच्चश्रेणीका नाटक बन ही नहीं सकता। बाहरके युद्धसे नाटकका विशेष उत्कर्ष नहीं होता। उसे तो ऐरे गैरे सभी नाटककार दिखा सकते हैं। जिस नाटकमें केवल उसीका वर्णन होता

है, वह नाटक नहीं, इतिहास है। जिस नाटकमें बाहरके युद्धको उपलक्षमात्र रख कर मनुष्यकी प्रवृत्तियोंका विकास दिखाया जाता है, वह नाटक अवश्य हो सकता है, परन्तु उच्च श्रेणीका नहीं। जो नाटक प्रवृत्तियोंका युद्ध दिखाता है, वही उच्च श्रेणीका नाटक है।

उच्च श्रेणीके नाटकमें प्रवृत्तिसमूहका सामंजस्य अधिक परिमाणमें रहता है। जैसे साहस, अध्यवसाय, प्रत्युत्पन्नमतित्व इत्यादि गुणोंका समवाय। अथवा द्वेष, जिघांसा, लोभ इत्यादि वृत्तिसमूहका समवाय एक चरित्रमें रह सकता है।

अनुकूल वृत्तिसमूहके सामंजस्यकी रक्षा करके नाटक लिखना उतना कठिन नहीं है। उसमें मनुष्य-हृदयके संबंधमें नाटककारके ज्ञानका भी विशेष परिचय नहीं प्राप्त होता। आदर्शचरित्रके सिवा प्रत्येक मनुष्यचरित्र दोष और गुणसे गठित होता है। दोषोंको निकालकर केवल गुण ही गुण दिखानेसे, अथवा गुणोंको छोड़कर केवल दोष ही दोष दिखानेसे एक संपूर्ण मनुष्यचरित्र नहीं दिखाया जा सकता। जो नाटककार एक आदर्शचरित्र चित्रित करनेहीको बैठा हो, उसकी बात जुदी है। वह देवचरित्र---मनुष्यका चरित्र कैसा होना चाहिए---यही दिखाने बैठा है। वास्तवमें वह नाटकके आकारमें धर्मका प्रचार करने बैठा है। मैं तो ऐसे ग्रंथोंको नाटक ही नहीं कहता—धर्मग्रंथ कहता हूँ। ऐसा कवि उस चरित्रके जितने प्रकारके गुण हो सकते हैं उन सबको एकत्र एक नाटकमें जितना दिखा सकता है उतनी ही उसकी प्रशंसा है। किन्तु उससे मनुष्यचरित्रका चित्र नहीं अंकित होता।

विपरीत वृत्तिसमूहका समवाय दिखाना अपेक्षाकृत कठिन कार्य है। इसी जगहपर नाटककारका कृतित्व अधिक है। जो नाटककार मनुष्यके अन्तर्जगत्को खोलकर दिखा सकता है वही यथार्थमें सच्चा दार्शनिक

कवि है। बल और दुर्बलताके, जिघांसा और करुणाके, ज्ञान और विज्ञानके, गर्व और नम्रताके क्रोध और संयमके—पाप और पुण्यके—समावेशसे ही यथार्थ उच्चश्रेणीका नाटक होता है। इसीको मैं अन्तर्विरोध कहता हूँ। मनुष्यको एक शक्ति धक्का देती है, और दूसरी एक शक्ति उसे पकड़े रोके रखती है। घुड़सवारकी तरह कवि एक हाथसे चाबुक मारता है और दूसरे हाथसे रास पकड़े खींचे रहता है। ऐसे कवि ही महादार्शनिक कवि कहलाते हैं।

नाटकमें और एक गुण रहना चाहिए। क्या नाटक, क्या उपन्यास, क्या महाकाव्य, कोई भी प्रकृतिका अतिक्रमण नहीं कर सकता। वास्तवमें सभी सुकुमार-कलायें प्रकृतिकी अनुगामिनी होती हैं। कविको अधिकार है कि वह प्रकृतिको सजावे या रंजित करे। किन्तु उसे प्रकृतिकी उपेक्षा करनेका अधिकार नहीं है।

अब हमने देखा कि नाटकमें ये गुण रहने चाहिए।—(१) घटनाका ऐक्य, (२) घटनाकी सार्थकता, (३) घटनाओंकी घातप्रतिघात गति, (४) कवित्व, (५) चरित्रचित्रण और (६) स्वाभाविकता।

अब कालिदासके शकुन्तला नाटकके आख्यानभागको ले लीजिए। दुष्यन्तके साथ शकुन्तलाका प्रेम (उसका अंकुर, उसकी वृद्धि और उसका परिणाम) दिखाना ही इस नाटकका उद्देश्य है। इस नाटकका आरंभ जिस विषयको लेकर हुआ है, उसी विषयको लेकर समाप्ति भी हुई है। इसका मूलविषय प्रेम है, युद्ध नहीं। उस प्रेमकी सफलता या निष्फलताको लेकर ही प्रेममूलक नाटककी रचना होती है। शकुन्तला नाटकमें प्रेमकी सफलता दिखाई गई है। अतएव देखा जाता है कि शकुन्तला नाटकमें घटनाका ऐक्य है।

उसके बाद इस नाटकमें अन्य सब चरित्र दुष्यन्त और शकुन्तलाकी प्रेमकथाको प्रस्फुटित करनेके लिए ही कल्पित हुए हैं। नाटकमें वर्णित सभी घटनायें उसी प्रेमकी धारामें या तो बाधास्वरूप होकर संमिलित हुई हैं, या उस प्रेमप्रवाहको और भी वेगसे आगे बढ़ानेके लिए सहायक बनी हैं। विदूषकसे राजाका झूठ बोलना, एकान्तमें गुप्त रूपसे विवाह, दुर्वासाका शाप, अँगूठीका उँगलीसे गिर जाना—ये घटनायें मिलनके प्रतिकूल हैं। विवाह, धीवरके द्वारा अँगूठीका निकलना और मिलना, राजाका स्वर्गमें निमंत्रण—ये घटनायें मिलनके अनुकूल हैं। ऐसा एक भी दृश्य इस नाटकमें नहीं है, जिसके निकाल डालनेसे परिणाम ठीक वर्णितरूपमें होता। अतएव इस नाटकमें घटनाओंकी सार्थकता भी है।

इसके सिवा इस नाटकमें देखा जायगा कि घात-प्रतिघातमें ही यह नाटक अग्रसर हुआ है। पहले अंकमें ज्यों ही शकुन्तला और दुष्यन्तके मनमें परस्पर मिलनेकी आकांक्षा उत्पन्न होती है, त्योंही घर लौट आनेके लिए दुष्यन्तके पास माताकी आज्ञा पहुँचती है। उधर गौतमीकी सावधान दृष्टि, गुप्तरूपसे विवाह, कण्वके भयसे राजाका भाग खड़े होना, दुर्वासाका अभिशाप इत्यादि घटनाओंने कथाभागको लगातार वक्रभावसे आगे बढ़ाया है, उसे सरल भावसे नहीं चलने दिया।

कालिदासने इस नाटकमें अन्तर्विरोध भी दिखाया है। किन्तु वह अन्तर्विरोध प्रायः किसी भी जगह अच्छीतरह स्पष्ट नहीं हुआ। पहले अंकमें, शकुन्तलाके जन्मके सम्बन्धमें राजाका कौतूहल वासनाजनित है। शकुन्तलासे ब्याह करनेकी इच्छा दुष्यन्तके मनमें पैदा हुई; लेकिन असवर्ण-विवाह तो संभव नहीं। इसीसे राजा सोचते हैं कि

शकुन्तला ब्राह्मणकन्या है या नहीं। यह दुविधा दुष्यन्तको किसी प्रकारके अन्तर्द्वन्द्वमें नियुक्त नहीं कर पाई, पहले ही संदेहभंजन हो गया। उन्हें मालूम हो गया कि शकुन्तला विश्वामित्रके वीर्यसे उत्पन्न मेनका अप्सराकी कन्या है। वास्तवमें सन्देह उठते ही उसकी जड़ कट गई। कारण, दुष्यन्त कहते हैं कि उनके मनमें जब शकुन्तलाके ऊपर आसक्ति उत्पन्न हुई है तब शकुन्तलाको क्षत्रियकन्या होना ही होगा। यहाँ कोई भी अंतर्विरोध नहीं है।

माताकी आज्ञा और ऋषियोंकी आज्ञामें कुछ भी संघर्ष नहीं हुआ। माताकी आज्ञा पहुँचते ही उसकी व्यवस्था हो गई। माढव्य जायँगे राजमाताकी आज्ञाका पालन करने, और राजा जायँगे ऋषियोंकी आज्ञाका पालन करने—अर्थात् शकुन्तलाके लिए। तीसरे अंकमें जिस समय राजा अकेले हैं उस समय वे सोचते हैं—"**जाने तपसो वीर्यं, सा बाला परवतीति मे विदितम्।**" (मैं तपके बलको जानता हूँ और यह भी मुझे विदित है कि वह बाला पराधीन है।) किन्तु इसके बाद ही उनका सिद्धान्त हो गया कि "**नच निम्नादिव सलिलं निवर्तते मे ततो हृदयम्।**" (किन्तु तो भी नीचेकी ओर जानेवाली जलराशिकी तरह मेरा हृदय उसीकी ओर जा रहा है, उधरसे नहीं लौटता)।

सीजर (Caesar) के दिग्विजयकी तरह लालसाकी Vini Vidi Vici—युद्ध होनेके पहले ही पराजय होती है। उसके बाद इसी अंकमें राजा एकदम प्रकृत कामुक देख पड़ते हैं! यथार्थ अन्तर्विरोध जो कुछ हुआ है, वह पञ्चम अंकमें।

दुर्वासाके शापसे राजाको स्मृतिभ्रम हो गया है। किन्तु शकुन्तलाको देखते ही उनका कामुक मन शकुन्तलाकी ओर खिंच जाता है। वे प्रश्न करते हैं—

"केयमवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम्॥"

[यह कौन स्त्री है, जो घूँघट काढ़े हुए है और जिसका शरीर-लावण्य अतिपरिस्फुट नहीं है। इन मुनियोंके बीचमें यह वैसी ही जान पड़ती है, जैसे पके हुए पीले पुराने पत्तोंके बीच कोई नई कोंपल हो।]

उनका ध्यान शकुन्तलाके नातिपरिस्फुट शरीरलावण्यपर ही जाकर जम गया! किन्तु जब शार्ङ्गरव और गौतमीने उसी नातिपरिस्फुट शरीरलावण्यवाली अवगुण्ठनवतीको पत्नीभावसे ग्रहण करनेके लिए दुष्यन्तसे कहा, तब दुष्यन्तने कहा—"किमिदमुपन्यस्तम्।" (तुम लोग यह क्या कह रहे हो?)।

गौतमीने शकुन्तलाका घूँघट खोलकर दिखाया। तब राजाने फिर अपने मनमें सोचा—

"इदमुपनतमेवं रूपमक्लिष्टकान्ति-
प्रथमपरिगृहीतं स्यान्नवेत्यध्यवस्यन्।
भ्रमर इव निशान्ते कुन्दमन्तस्तुषारं
न खलु सपदि भोक्तुं नापि शक्नोमि भोक्तुम्॥"

[इस प्रकार पाये हुए इस अमलिनकान्त मनोहर रूपको देखकर वार-वार सोचनेपर भी मैं कुछ निश्चय नहीं कर सकता कि पहले कभी मैं इसे ग्रहण कर चुका हूँ या नहीं। जैसे भ्रमर सवेरेके समय भीतरस हिमपूर्ण कुन्दकुसुमको न भोग ही सकता है और न छोड़ ही सकता है, वैसे ही मैं भी इस समय शीघ्र न इसे ग्रहण ही कर सकता हूँ और न अस्वीकार ही कर सकता हूँ।]

यह यथार्थ अन्तर्विरोध है। एक तरफ लालसा है, और दूसरी तरफ धर्मज्ञान है। मनके भीतर युद्ध चल रहा है। तथापि राजा स्मरण नहीं कर सके कि उन्होंने शकुन्तलासे ब्याह किया है या नहीं। उन्होंने गर्भवती शकुन्तलाको ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया।—

"**कथमिमामभिव्यक्तसत्वलक्षणामात्मानमक्षत्रियं मन्यमानः प्रतिपत्स्ये।**"

[इसके गर्भके लक्षण सब प्रकट देख पड़ते हैं। मैं क्षत्रियधर्मके विरुद्ध इसे कैसे ग्रहण कर सकता हूँ ?]

अबकी शकुन्तलाका मुँह खुला। उसने कहा—"ऐसे शब्दोंसे प्रत्याख्यान करना क्या आपके योग्य है ?" (**इदिसेहिं अक्खरेहिं पच्चाक्खादुं**)। राजाने कानोंमें उँगली देकर कहा—"**शांतं पापं** + + + **समीहसे मां च नाम पातयितुम्।**" (हरे हरे ! तुम मुझे अधःपतित करना चाहती हो !)

शकुन्तला अँगूठी नहीं दिखा सकी। अँगूठी उँगलीसे गिर गई थी। गौतमीने कहा—"अँगूठी अवश्य ही नदीके भीतर गिर गई है।" तब राजाने यहाँ तक कि गौतमी तकपर व्यंग्य करके कहा—"**इदं तावत्प्रत्युत्पन्नमतित्वं स्त्रीणाम्।**" (इसीसे लोग स्त्रियोंको प्रत्युत्पन्नमति कहते हैं, अर्थात् वे तुरन्त बात बना लेना जानती हैं।)— यहाँ तक कि राजा ऐसे कठोर और असभ्य बन गये कि गौतमीने जब कहा—"यह शकुन्तला तपोवनमें पलकर इतनी बड़ी हुई है। शठता किसे कहते हैं, यह जानती भी नहीं है," तब राजाने कहा—

> "**स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीणां**
> **संदृश्यते किमुत याः परिबोधवत्यः।**
> **प्रागन्तरिक्षगमनात्स्वमपत्यजात-**
> **मन्यद्विजैः परभृतः किल पोषयन्ति॥**"

[जो मानुषी नहीं हैं उन स्त्रियोंमें भी जब स्वाभाविक चालाकी देख पड़ती है, तब जिन्हें बोध है उन मानुषी नारियोंके लिए तो कुछ कहना ही नहीं है। देखो, कोकिलायें अपने अंडे कौओंके यहाँ रख आती हैं और कौए ही उन्हें पालते हैं। इस प्रकार वे अपने बच्चोंको उड़ने लगनेसे पहले अन्य पक्षियोंसे पलवा लेती हैं।]

यह सुनकर शकुन्तलाने क्रोधके साथ कहा—"हे अनार्य! तुम अपने ही समान सबको समझते हो! + + तुम घाससे ढके हुए कूपके समान धोखेबाज हो। सभीकी वैसी प्रवृत्ति नहीं होती, यह जान रक्खो।" उस समय शकुन्तला क्रोधसे फूल रही थी। तब फिर राजाको संदेह हुआ।—

"न तिर्यगवलोकितं भवति चक्षुरालोहितं
वचोऽपि परुषाक्षरं न च पदेषु संगच्छते।
हिमार्त इव वेपते सकल एव बिम्बाधरः
प्रकामविनते भ्रुवौ युगपदेव भेदं गते॥" *

तब शकुन्तलाने ऊपर हाथ उठाकर कहा—"महाराज! आपने मेरा पाणिग्रहण किया है, इसका साक्षी धर्मके सिवा और कोई नहीं है। स्त्रियाँ क्या कभी इस तरह लज्जा छोड़कर परपुरुषकी आकांक्षा करती हैं? मैं क्या स्वेच्छाचारिणी गणिकाकी तरह आपके निकट आई हूँ?"

शकुन्तला रोने लगी। दुष्यन्त चुप थे! हम समझ सकते हैं कि इस समय दुष्यन्तके हृदयमें कैसी हलचल मची हुई थी। सामने रोती हुई अनुपम सुंदरी उनसे पत्नीत्वकी भिक्षा माँग रही है। उसके सहायक दो ऋषि और एक ऋषिकन्या है। किन्तु उधर धर्मका भय

* इसका अर्थ पृष्ठ ५४ में लिखा जा चुका है। पाठकोंको वहाँ देख लेना चाहिए।

उन्हें अपनी ओर खींच रहा है। एक महासमर हो रहा है। अन्तको धर्मभयकी ही जय हुई। याद नहीं आता कि एक दृश्यमें इतना बड़ा अन्तर्विरोध और किसी नाटकमें मैंने देखा है या नहीं।

छठे अंकमें राजाने प्रतिहारीसे कहा कि आज मैं धर्मासनके सब कामोंको अच्छी तरह नहीं देख सकूँगा। मन्त्री ही पुरवासियोंके सब मामलोंको देख-सुनकर उनका विवरण मेरे पास भेज दें। कंचुकीको भी यथोचित आज्ञा दी। सबके चले जाने पर राजाने अपने प्रिय वयस्य विदूषकके आगे अपने हृदयका सब हाल कह दिया, अपना हृदय खोलकर दिखा दिया। इसके बाद चेटी दुष्यन्तके हाथका बनाया हुआ शकुन्तलाका चित्र लेकर आई। राजा उसे तन्मयचित्त होकर देखने लगे।

इसके बाद विदूषक उस चित्रको लेकर चला गया, और प्रतीहारीने आकर राजकाजकी रिपोर्ट राजाके आगे पेश की। राजाने देखा, एक निःसन्तान बेपारी समुद्रमें डूब गया है। राजाने उसपर आज्ञा दी कि “देखो, इस व्यक्तिके बहुत स्त्रियोंका होना संभव है। यदि इसकी किसी स्त्रीके गर्भ हो, तो वह गर्भस्थ सन्तान ही अपने पिताके धनका अधिकारी होगा।” इसके बाद प्रतीहारी जब जाने लगा, तब राजाने फिर उसे बुलाकर कहा—“उसके सन्तान हो या न हो, इससे क्या मतलब—

“येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।
न स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्॥”

[देखो, प्रजागणको जिस जिस स्नेहपात्र बन्धुका वियोग हो, उस उसकी जगह, दुष्यन्त उनका बन्धु है—किन्तु वह प्रजा किसी पापसे कलुषित न हो। यह घोषणा कर दो।]

इसके बाद राजाको खुद अपनी निःसन्तान अवस्थाका स्मरण हो आता है। वे सोचते हैं, मेरे भी तो कोई पुत्र नहीं है; मेरे बाद पूर्वपुरुषोंको पिण्डदान कौन करेगा? राजा अपनेको धिक्कार देने लगते हैं। इसी समय उन्हें माढव्य (विदूषक) का आर्तनाद सुन पड़ता है। वे सुनते हैं कि कोई पिशाच आकर उनके बन्धुको पकड़े लिये जा रहा है। सुनकर राजा सुप्तोत्थितकी तरह उठ खड़े होते हैं। वे धनुष-बाण लेकर वयस्यको पिशाचसे छुड़ानेके लिए जाना ही चाहते हैं कि उसी समय इन्द्रका सारथी मातलि माधव्यको साथ लिये उपस्थित होता है और राजासे कहता है कि दैत्यदमनके लिए इन्द्रदेव उनकी सहायताके प्रार्थी हैं। राजा उस निमन्त्रणको ग्रहण कर लेते हैं।

इस अंकमें अवश्य अन्तर्विरोध नहीं है, किन्तु राजाके राजकर्तव्य-ज्ञान, विरह और अनुतापने मिलकर जिस एक अद्भुत करुण रसकी सृष्टि की है, जगत्के साहित्यमें वह अतुलनीय है।

किन्तु भवभूतिके नाटकमें इन गुणोंका बिल्कुल ही अभाव है। हाँ, उसमें घटनाओंकी एकाग्रता अवश्य है। सीताके साथ रामका वियोग और फिर मिलन, ये ही दो बातें इस नाटककी प्रधान घटनायें हैं। प्रथम अंकमें वियोग है, और सातवें अंकमें मिलन है। किन्तु इस नाटकमें घटनाओंकी सार्थकता नहीं है। दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ और छठा, ये सब अंक संपूर्ण रूपसे अवान्तर हैं। इन कई अंकोंमें केवल एक ही व्यापार—रामका जनस्थानमें प्रवेश—है। दूसरे अंकमें शम्बूकके साथ पञ्चवटीकी सैर, तीसरे अंकमें छाया-सीताके सामने रामका विलाप और खेद, चौथे अंकमें जनक कौशल्या और अरुन्धतीके साथ लवका परिचय, पाँचवें अंकमें लव और चन्द्रकेतुका युद्ध और छठे अंकमें कुशके मुखसे रामका रामायणगान सुनना

वर्णित है। इनके न रहने पर भी सीताके साथ रामका मिलन हो सकता था। इस नाटकमें जो कुछ नाटकत्व है सो प्रथम और सप्तम अंकमें।

प्रथम अंकमें राम अष्टावक्र मुनिके आगे प्रतिज्ञा करते हैं—

" स्नेहं दयां तथा सौख्यं यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥ "

[स्नेह, दया और सौख्यको, और तो क्या यदि जानकी तकको, प्रजारञ्जनके लिए छोड़ना पड़े तो भी मुझे व्यथा नहीं होगी।]

इसी जगह नाटकका आरंभ है। इसके बाद चित्रपट देखते-देखते सीताकी इच्छा हुई कि मैं फिर तपोवनके दर्शन करूँ। इसके साथ परिणामका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। किन्तु यहाँ पर भविष्यके बारेमें कुछ इशारा मौजूद है। बादको दुर्मुखने आकर रामसे सीताके लोकापवादका हाल कहा। इसकी चरम सार्थकता है, क्यों कि इसीके कारण राम और सीताका विच्छेद होता है।

रामने कुछ देरतक शोक करके सीताको वन भेज देनेका पक्का इरादा कर लिया। यहाँतक तो नाटक चलता रहा। इसके बाद आगेके पाँच अंकोंमें नाटकत्व स्थगित हो जाता है। सहस्ररजनीचरित्रकी कहानीकी तरह, आगे कहानीके भीतर कहानी चलती है। फर्क सिर्फ इतना ही है कि सहस्ररजनीचरित्रमें जो कहानियाँ हैं उनमें मनोहरता है, किन्तु यहाँ उसका अभाव है।

सातवें अंकमें राम वाल्मीकिकृत 'सीता-निर्वासन' का अभिनय देख रहे हैं। यह वाल्मीकिकी रामायणमें वर्णित सीताके पातालप्रवेशकी घटनाको लेकर रचित है। किन्तु नाटकमें इस अभिनयकी कोई विशेष सार्थकता नहीं है। अभिनय देखते-देखते राम शोकविह्वल और

मूर्च्छित हो पड़ते हैं। सीता आकर रामको सचेत करती हैं। उसके बाद दोनोंका मिलन हो जाता है, बस।

सच कहा जाय तो इस नाटकभरमें सीता-निर्वासन और लवके साथ चन्द्रकेतुका युद्ध, ये दो ही घटनाएँ हैं। इनमें भी एक अवान्तर है। युद्ध न रहनेसे भी नाटककी कोई हानि नहीं थी।

इस नाटकमें अन्तर्विरोध नहीं है। ज्यों ही सीताके लोकापवादकी खबर मिली त्यों ही सीताका निर्वासन हो गया। हाँ, रामका विलाप यथेष्ट है। किन्तु उसमें "यह करूँ या न करूँ" यह भाव नहीं है। संकल्पके साथ कर्तव्यका युद्ध नहीं है।

नाटकके नाटकत्वका और एक लक्षण है चरित्रचित्रण। पहलेके परिच्छेदमें दिखाया जा चुका है कि उत्तरचरितमें कोई भी चरित्र परिस्फुट नहीं हुआ। किन्तु अभिज्ञान शाकुन्तलमें चित्रणकौशल बहुत अधिकताके साथ दिखाया गया है। अतः उस विषयकी पुनरुक्तिका यहाँ प्रयोजन नहीं है।

कवित्व शाकुन्तलामें भी है। किन्तु उत्तरचरितमें हम उससे अधिक कवित्व देखते हैं। आगेके परिच्छेदमें इसकी विस्तृत समालोचना की जायगी।

चौथा परिच्छेद।

कवित्व।

'कवित्व' शब्दकी अनेक प्रकारकी व्युत्पत्तियाँ देखी जाती हैं। भिन्न भिन्न कोषकारोंने इसके भिन्न भिन्न अर्थ समझे और लिखे हैं।

वेब्स्टर साहब लिखते हैं:—

" Poetry is the embodiment in appropriate language of beautiful or high thought, imagination or emotion, the language being rhythmical, usually metrical, and characterised by harmonic and emotional qualities which appeal to and arouse the feeling and imagination. "*

चेम्बर्स साहब Chambers कहते हैं—

"Poetry is the art of expressing in melodious words the thoughts which are the creations of feeling and imagination."†

यहाँ हाई थाट (high 'thought') का नाम नहीं है।

---

* उपयुक्त भाषामें सुन्दर और उच्च विचारोंका समावेश, यही कविता है। उसमें कल्पना और भावावेश भी रहने चाहिए। यह भी आवश्यक है कि भाषा पद्यात्मक हो और उसकी यह विशेषता होनी चाहिए कि उसके पढ़नेसे पाठकोंके हृदयमें उसीके अनुकूल भावोंका उद्रेक हो।

† मधुर शब्दोंमें कल्पना और भावप्रसूत विचारोंको प्रकट करनेकी कलाको कविता कहते हैं।

समालोचकोंमें मैथ्यू आर्नोल्ड Mathew Arnold का स्थान अत्यन्त ऊँचा है। वे कहते हैं—

"Poetry is at bottom a criticism of life. The greatness of a poet lies in his powerful and beautiful application of ideas to life. + + + Poetry is nothing less than the most perfect speech of man in which he comes nearest to being able to utter the truth."*

मैथ्यू आर्नोल्ड Mathew Arnold का यह लक्षण केवल बहुत ऊँचे दर्जेके कवियोंके सम्बन्धमें ही घटित होता है। किन्तु निम्न श्रेणीके कवि भी तो कवि हैं।

आल्फ्रेड लायल Alfred Lyall कहते हैं—

"Poetry is the most intense expression of the dominant emotions and the higher ideals of the age."†

यहाँ क्रिटीसिज्म आफ लाइफ (criticism of life) का जिक्र नहीं है।

'कवि कौन है,' इस विषयको लेकर खुद कवियोंमें ही मतभेद देख पड़ता है। बेली Bailey कहते हैं—

"Poets are all who love, who feel great truths,
And tell them; and the truth of truth is love."¶

---

* कविता यथार्थमें मानव-जीवनका सूक्ष्म विश्लेषण है। कविकी महत्ता इसीमें है कि वह विचारोंको बड़ी कुशलतासे जीवनके उपयुक्त कर दे। × × × जब मनुष्य सत्यको सबसे श्रेष्ठ भाषामें प्रकट करता है तब वही भाषा कविता हो जाती है।

† किसी युगके प्रधान भावों और उच्च आदर्शोंको प्रभावोत्पादक रीतिसे प्रकट कर देना ही कविता है।

¶ कवि वे हैं जो प्रेमी होते हैं, जो परम सत्यका अनुभव करते हैं और उन्हें प्रकट करते हैं। वह परम सत्य (सत्यका सत्य) है प्रेम।

शेक्सपियरने तो कवियोंका शुमार उन्मत्तोंकी श्रेणीमें किया है—

"The lunatic, the lover and the poet
Are of imagination all compact."*

कविका काम क्या है?—

"The poet's eye in a fine frenzy rolling
Doth glance heaven to earth, from earth to heaven.
And as imagination bodies forth
The form of things unknown, the poet's pen,
Turns them to shape, and gives to airy nothing
A local habitation and a name."†

मिल्टन (Milton) कहते हैं—

"A poet soaring in the high realm of his fancies with his garland and singing robes about him."‡

अपि च—

"Poetry ought to be simple, sensuous and impassioned.
We poets in our youth begin in gladness
But thereof, come in the end despondency and sadness." ¶

---

* पागल, कवि और प्रेमिक, इनकी कल्पनायें एकसी रहती हैं।

† कविकी दृष्टि उल्लाससे भरकर पृथ्वीसे स्वर्ग और स्वर्गसे पृथ्वी तक घूमती है और जैसे जैसे कल्पना अलक्ष्यको लक्ष्य करती है वैसे वैसे कवि उन्हें रूप देता है। और जिनका अस्तित्व तक नहीं उन्हें वह नाम रूप देकर संसारमें ला देता है।

‡ कवि सङ्गीतहीका वस्त्र पहने और माला धारण किये कल्पनाके अनन्त-क्षेत्रमें उड़ता रहता है।

¶ कविता सरल हो, इन्द्रियगम्य हो, और भावपूर्ण हो। हम लोग (कविगण) अपने युवाकालका आरंभ तो आनन्दसे करते हैं परन्तु अन्त उसका होता है निराशा और दुःखमें।

कवियोंमें इस विषयमें मतभेद है।

संस्कृतके लक्षणग्रन्थोंमें लिखा है—"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"। (रसमय वाक्य ही काव्य है।) रस नव हैं। उन रसोंसे युक्त वाक्य ही काव्य ठहरा। यह परिभाषा अत्यन्त सहज है।

ऊपर उद्धृत वचनोंसे यह नहीं जान पड़ता कि कोषकार, कवि और समालोचकोंने इसका एक ही अर्थ समझा है।

यह ठीक ठीक समझाना कठिन है कि कवित्व किसे कहते हैं। इसका राज्य इतना विस्तृत और विचित्र है कि एक ही वाक्यमें इसके सम्बन्धमें अच्छी तरह धारणा करा देना असंभव है। मगर हाँ, विज्ञान आदिसे पृथक् करके—'यह क्या है,' सो न कहकर, 'यह क्या नहीं है,' सो कहकर—यह विषय एक प्रकारसे समझाया जा सकता है।

विज्ञानसे कविता पृथक् है। विज्ञानकी भित्ति बुद्धि है; कविताकी भित्ति अनुभूति है। विज्ञानका जन्मस्थान मस्तिष्क है; कविताकी जन्मभूमि हृदय है। विज्ञानका राज्य 'सत्य' है, कविताका राज्य सौन्दर्य है।

कविकुलचूड़ामणि वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) कविताके राज्यको एक ऐसा पवित्र तीर्थस्थान समझते हैं, जहाँ वैज्ञानिकका प्रवेश निषिद्ध है। उन्होंने अपनी "Poets' Epitaph" नामकी कवितामें वैज्ञानिकोंके प्रति अवज्ञा दिखाकर कहा है—

"who would botanise
over his mother's grave"*

कार्लाइल कहते हैं—Poets are Seers या Prophets. अर्थात् कवि भविष्यद्वक्ता हैं। वैज्ञानिक लोग विज्ञानके द्वारा ब्रह्माण्डमें

* ऐसा कौन है जो अपनी माताकी कब्र पर वनस्पतिशास्त्रका अध्ययन करेगा?

जो शृंखला देखते हैं, कविगण उस शृंखलाका अनुभव अनुभूतिके द्वारा करते हैं। उस शृंखलामें एक सौन्दर्य है। वह सौन्दर्य ही कवियोंका वर्णनीय विषय है। वैज्ञानिकगण कहते हैं कि सन्तानके ऊपर माताका स्नेह न होता तो सन्तान जी नहीं सकता था। कारण, सन्तान दुर्बल और निःसहाय होता है—एक पिता माताके यत्नके ऊपर ही शिशुका जीवन निर्भर है। इसी कारण माता खुद न खाकर सन्तानको खिलाती है, खुद न सोकर सन्तानको सुलाती है, अपनी छातीका अमृत पिलाकर सन्तानका लालन पालन करती है, और अपने जीवनको देकर सन्तानके भविष्यका संगठन करती है। इसी नियमसे संसार चलता है। नहीं तो संसार शीघ्र ही लुप्त हो जाता। परन्तु कविगण तर्क नहीं करते। वे दिखाते हैं—माताका स्नेह कैसा सुन्दर है! ईश्वरके राज्यमें कैसी अद्भुत चमत्कारपूर्ण शृंखला है! विज्ञानकी युक्ति सुनकर हम सन्तानके प्रति माताके कर्तव्यको समझ भर लेते हैं। परन्तु कविता पढ़ कर उस वात्सल्यके ऊपर भक्ति होती है। वैज्ञानिक और कवि, इन दोनोंमेंसे जगत्का उपकार कौन अधिक करता है—यह बात यहाँ पर, इस समय, विचारणीय नहीं है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि दोनोंका लक्ष्य एक है—अर्थात् दोनों ही सृष्टिकी शृंखलाकी ओर पाठकोंका ध्यान आकृष्ट करते हैं।

किन्तु हरएक प्राकृतिक व्यापार काव्यका विषय नहीं होता। प्राकृतिक सत्य होनेसे ही वह सुंदर नहीं हो जाता। जगत्में ऐसी अनेक चीजें हैं, जो कुत्सित हैं। विज्ञान उन्हें चीर फाड़कर दिखा सकता है, किन्तु कवित्व उन्हें छूता भी नहीं, छोड़कर चला जाता है। इसी कारण आजतक किसी भी महाकविने अपने काव्यमें आहार आदि शारीरिक क्रियाओंका वर्णन नहीं किया। संस्कृतके अलंकारशास्त्रोंमें भी

उन्हें दिखानेके सम्बन्धमें पूर्ण निषेध है । कोई भी सुकुमार कला कुत्सितता दिखाने नहीं बैठती । जो मधुर है, जो सुन्दर है, और जो हृदयमें सुखकर अनुभूतिका सञ्चार करता है, अथ च हमारी पाशव प्रवृत्तियोंको उत्तेजित नहीं करता, उसीका वर्णन करना सुकुमार कलाओंका एक उद्देश्य है ।

यहाँ कविताको अन्यान्य सुकुमारकलाओंसे अलग करना होगा । साधारणतः सुकुमारकलायें पाँच हैं—स्थापत्य (थवईगीरी), भास्कर्य (खुदाई और नक्काशीका काम), चित्रकला, संगीत और कविता । भास्कर पत्थरकी मूर्तिद्वारा प्राकृतिक सौन्दर्यका अनुकरण करता है । चित्रकार रंगके द्वारा प्राकृतिक सौन्दर्यका अनुकरण करता है । परन्तु स्थपतिज्ञ और संगीतज्ञ प्रकृतिका अनुकरण नहीं करते—वे नूतन सौन्दर्यकी सृष्टि करते हैं । स्थपति यह काम मिट्टी और पत्थरमें, और गवैया संगीत और स्वरमें करता है । और कवि, मनोहर छंदोंमें प्रकृतिका अनुकरण भी करता है, और नवीन सौन्दर्यकी सृष्टि भी करता है ।

पहले ही कहा जा चुका है कि नाटकमें कवित्व रहना चाहिए । किन्तु कोरा कवित्व रहनेसे ही कोई काव्य नाटक नहीं बन जाता । नाटकमें और भी अनेक गुण रहनें आवश्यक हैं । कवित्वका राज्य सौन्दर्य है । नाटकका राज्य अनन्त मानवचरित्र है । मनुष्य-चरित्रमें सुंदर और कुत्सित दोनों ही पहलू हैं । नाटकमें मानव-चरित्रका कुत्सित पहलू दिखानेका भी प्रयोजन होता है । और असल बात तो यह है कि नाटकमें मानवचरित्रका कुत्सित पहलू छोड़कर केवल सुन्दर पहलू दिखाना बहुत कठिन है । शेक्सपियरने अपने जगत्प्रसिद्ध नाटकोंमें समस्त मानवचरित्रको मथ डाला है । उनके किंग लियर नाटकमें जैसे बंधुत्व, और पितृस्नेह है, वैसे ही पितृविद्वेष, क्रूरता और स्वेच्छाचारिता भी है ।

हैम्लेट नाटकमें एक ओर भ्रातृहत्या और लालसा है, और दूसरी ओर पितृभक्ति और प्रेम है। ओथेलो नाटकमें जैसे सरलता और पातिव्रत्य है, वैसे ही प्रतिहिंसा और डाह है। जूलियस सीजर नाटकमें जैसे पतिभक्ति और देशभक्ति है, वैसे ही लोभ और दण्ड है। मैकबेथ नाटकमें जैसे राजभक्ति और सौजन्य है, वैसे ही राजद्रोह और कृतघ्नता है।

किन्तु नाटकमें भी कुत्सित घटनाओंको इस तरह अंकित करना निषिद्ध है, जिससे वह कुत्सित घटना लोभनीय हो उठे। जर्मन कवि शीलर Schilier ने अपने Robbers नामक नाटकमें डकैतीको मनोहर बनाकर अंकित किया है, इसीसे समालोचकोंने उसका विशेष तिरस्कार किया है।

फिर यदि कुत्सित व्यापारका वर्णन करके ही नाटक चुप रह जाय तो (उस कुत्सित व्यापारके प्रति पाठकोंमें विद्वेष उत्पन्न हो जाने पर भी) वह नाटक उच्च श्रेणीका नाटक नहीं रह जाता। नाटकमें बीभत्स व्यापारकी अवतारणा सुन्दरको और भी सुन्दर रूपसे स्पष्ट करनेके लिए होनी चाहिए। परन्तु जिस नाटकमें सुन्दर कुछ नहीं है, उसमें तो किसी जघन्य व्यापारकी अवतारणा करना अक्षम्य है। यहां तक कि नाटकमें कुत्सित बातोंकी अधिकता और प्रधानता सर्वथा त्याज्य है। शेक्सपियरका ही टाइटस एण्ड्रोनिकस् Titius Andronieus नाटक बीभत्स व्यापारकी भरमार होनेके कारण अत्यंत निन्दित गिना जाता है। और इस लिए शेक्सपियरके उपासक भक्त यह स्वीकार ही नहीं करना चाहते कि वह शेक्सपियरकी रचना है।

कालिदास या भवभूति उधर गये ही नहीं। उन्होंने अपने नाटकोंमें कुत्सित व्यापारोंकी अवतारणा ही नहीं की। उन्होंने जो कुछ

वर्णन किया है उसे अपनी कल्पनासे सुन्दर समझ कर किया है। अतएव अभिज्ञानशकुन्तल और उत्तररामचरित, नाटक होने पर भी, काव्यकी दृष्टिसे भी निर्दोष हैं। इस जगह पर शेक्सपियरके नाटकोंसे इन दोनों नाटकोंका विशेष भेद देख पड़ेगा।

कविताका राज्य सौन्दर्य है। वह सौन्दर्य बहिर्जगत्में भी है और अन्तर्जगत्में भी है। जो कवि केवल बाहरके सौन्दर्यका ही वर्णन सुन्दर रूपसे करते हैं, वे कवि हैं, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु जो कविजन मनुष्यके मनके सौन्दर्यका भी सुन्दर रूपसे वर्णन करते हैं, वे बहुत बड़े कवि या महाकवि हैं। अवश्य ही बाहरके सौन्दर्य और भीतरके सौन्दर्यमें एक निगूढ़ सम्बन्ध है। वह सौन्दर्य क्षणिक आनन्दको देनेवाला नहीं है। बाह्य प्रकृतिके माधुर्यका उपभोग तो इतर जीवजन्तु भी करते हैं। कुत्ता पूर्णचंद्रकी ओर देखता है, मयूर मेघको देख कर पूँछ फैलाकर नाचता है, सर्प केतकी-गंधसे आकृष्ट होता है और मृग वंशी-ध्वनि सुन कर स्थिर हो रहता है। किन्तु मनुष्यके निकट यह बाहरका सौन्दर्य केवल क्षणिक आनन्द देनेवाला ही नहीं है, उसका एक विशेष मूल्य है। बाहरका माधुर्य मनुष्यके हृदयको गठित करता है। मेरा विश्वास है कि स्नेह, दया, भक्ति, कृतज्ञता इत्यादि भावोंकी उत्पत्ति भी इसी बाहरके सौन्दर्यके बोधसे होती है। खिले हुए फूलको देखकर स्नेहका विकास होता है, सूर्यको देखकर भक्तिका उद्रेक होता है, नील आकाशकी ओर देखते-देखते हृदयकी संकीर्णता मिटती है, और मृदु संगीतके सुननेसे विद्वेषका भाव दूर होता है।

तथापि बाह्य सौन्दर्यके वर्णनकी अपेक्षा भीतरी सौन्दर्यके वर्णनमें कविकी अधिक कवित्वशक्ति प्रकट होती है। बाहरी सौन्दर्य भीतरी सौन्दर्यकी तुलनामें स्थिर, निष्प्राण और अपरिवर्तनीय है। आकाश

चिरकालसे जैसा नीला है वैसा ही नीला है। यद्यपि बीच बीचमें, वर्षा-आदिके अवसरपर, उसका वर्ण धूसर या कृष्ण होता है—तथापि उसका स्वाभाविक रंग नीला ही है। समुद्र और नदियाँ तरंगपूर्ण होनेपर भी, उनका साधारण आकार एक ही तरहका रहता है। बल्कि पर्वत, वन, मैदान, पशु, मनुष्य इत्यादिका आकार बदलता ही नहीं, यह कहना भी अनुचित न होगा। किन्तु मनुष्यके हृदयमें घृणा भक्तिका रूप धारण कर लेती है, अनुकंपासे प्रेमकी उत्पत्ति हो जाती है, और प्रतिहिंसासे कृतज्ञताका जन्म हो सकता है। जो कवि इस परिवर्तनको दिखा सकता है, जिसने अन्तर्जगत्के इस विचित्र रहस्यको खोलकर देखा है, उसके आगे मानसिक पहेलियाँ आप ही स्पष्ट हो गई हैं, उसके निकट मनुष्यहृदयकी गूढ़तम जटिल समस्यायें सरल और सहज हो गई हैं। उसकी इच्छाके अनुसार नई नई मोहिनी मानसी प्रतिमायें मूर्ति धारण करके पाठकोंकी आँखोंके आगे खड़ी होती हैं। उसके इशारेसे अंधकार दूर हो जाता है। उसकी जादूकी लकड़ीके स्पर्शसे निर्जीव सजीव हो जाता है। उसका कवित्व-राज्य दिगन्त-प्रसारित आन्दोलनपूर्ण समुद्रके समान रहस्यमय है।

इसके सिवा मनुष्य-हृदयके सौन्दर्यके आगे बाहरका सौन्दर्य कोई चीज नहीं। जैसे एक साधारण काष्ठविक्रेताकी कृतज्ञताके चित्रको देखकर आँखोंमें आँसू भर आते हैं, वैसे क्या किसी नारीके रूपका वर्णन पाठकोंकी आँखोंसे आनन्दके आँसू बहा सकता है? कविको जाने दीजिए, क्या माइकेल एंजिलो (Michael Angelo) की कोई मूर्ति, या राफेल (Raphael) का कोई चित्र-फलक आँखोंमें आँसू ला सकता है?

और एक बात है—बाह्य सौन्दर्य दिखानेका प्रकृत उपाय भास्कर्य और चित्रकला है। Luner का चित्र मिश्र-प्रकृतिका जो सौन्दर्य

एक घड़ीभरमें खोलकर दिखा देता है, उसका शतांश भी एक सौ सफोंमें लिखे गये छंद नहीं दिखा सकते। किन्तु कविता जिस तरह अन्तर्जगत्को स्पष्ट और सजीव भावसे दिखा सकती है, अन्य कोई भी शिल्पकला उस तरह उसे चित्रित करनेमें समर्थ नहीं। चित्रकला नारीके सौन्दर्यको अवश्य दिखा सकती है, किन्तु उसके गुणोंको नहीं प्रकट कर सकती। मनुष्यके अन्तर्जगत्को मथकर शेक्सपियरने अपने अपूर्व नाटकोंकी रचना की है, इसीसे वे जगतके आदर्श-कवि हैं।

किन्तु ऐसा कोई नियम नहीं है कि इसी कारण काव्यसे बहिर्ज-गत्का बहिष्कार कर देना होगा। बल्कि कार्य या प्रवृत्तिके सौन्दर्यको बहिर्जगत्के आधारमें रखनेसे काव्यका सौन्दर्य बढ़ जाता है। शेक्स-पियरने इसी हिसाबसे लियर (Lear) के मनकी आँधीको बाह-रकी आँधीके back-ground (पार्श्वभाग) में अंकित करके एक अपूर्व चित्रकी रचना की है।

कालिदास और भवभूति दोनोंने अपने नाटकोंमें दोनों तरहका सौन्दर्य दिखाया है। अब यह देखना चाहिए कि किसने किस तरह कैसा सौन्दर्य चित्रण किया है। बहिर्जगत्की सुन्दर वस्तुओंमें रमणीके सौन्दर्यका वर्णन साधारण कवियोंको अत्यन्त प्रिय होता है। तृतीय-श्रेणीके कविगण रमणीके मुख और अन्य अंगोंका वर्णन करनेमें वि-शेष आनन्द पाते हैं। खासकर हमारे देशमें शुरूसे ही इस वर्णनमें कुश-लता दिखाना कवित्वका मानदण्ड माना गया है। और इस समय तो यह हाल हो गया है कि जो कवि इस विषयमें जितनी ही अत्युक्ति कर सकता है, वह उतना ही बड़ा कवि समझा जाता है।

एक कविने कहा—

शशांक सशंक हेरि से मुखसुषमा,
दिन दिन तनुक्षीण अन्तरे कालिमा।

[उस मुखकी शोभाको देखकर चंद्रमा साशंक रहता है। इसका प्रमाण यही है कि दिन दिन उसका शरीर क्षीण होता जाता है और उसके हृदयमें कालिमा देख पड़ती है !]

भारतचंद्र कवि इससे भी आगे बढ़ गये। उन्होंने लिखा—

के बले शारदशशी से मुखेर तुला ?
पदनखे पड़े, तार आछे कतगुला !
विनानिया विनोदिनी वेणीर शोभाय।
सापिनी तापिनी तापे विवर लुकाय॥

[कौन कहता है कि शरदऋतुका चंद्रमा उस मुखके समान है ? वैसे कई एक चंद्र उस रमणीके पैरोंके नखों (का रूप रखकर उसके पैरों) में पड़े हुए हैं ! विनोदिनीकी खुली हुई वेणीकी शोभा देखकर, संताप करनेवाली सर्पिणी तापके मारे विलमें जाकर छिप रहती है !]

संस्कृतके अनर्घराघव नाटकमें उसके कविने सीताके रूपका वर्णन इस तरह किया है—“ब्रह्माने सीताकी सृष्टि करके चंद्रमा और सीताके मुखको तुला पर रक्खा। सौन्दर्यमें सीताका मुख अधिक सारयुक्त होनेके कारण भारी हुआ। इसी कारण सीता भूलोकमें आगई, और हलका होनेके कारण चन्द्रमा आकाशमें चला गया !”

इन सब वर्णनोंकी अपेक्षा बंकिमचंद्रकृत ‘आसमानी’ के रूपका वर्णन भी किसी अंशमें हीन नहीं है।

कालिदासने अपने नाटकके अनेक स्थानोंमें शकुन्तलाके रूपका वर्णन किया है। परन्तु उनका वर्णन सर्वत्र सजीव और हृदयग्राही है।

अभिज्ञान शाकुन्तलके पहले अंकमें बल्कलधारिणी शकुन्तलाको देखकर दुष्यन्त अपने मनमें सोचते हैं—

"इदमुपहितसूक्ष्मग्रन्थिना स्कन्धदेशे
स्तनयुगपरिणाहाच्छादिना वल्कलेन।
वपुरभिनवमस्याः पुष्यति स्वां न शोभां
कुसुममिव पिनद्धं पाण्डुपत्रोदरेण॥"

[शकुन्तला वल्कल धारण किये हुए है। कंधे पर सूक्ष्म गाँठ लगाकर वह बल्कल पहना गया है। उस बल्कलने दोनों स्तनोंके मण्डलको ढँक रक्खा है। इस कारण शकुन्तलाका अभिनव शरीर उसी तरह अपनी शोभाको नहीं प्रकट करता, जैसे पके हुए पीले पत्तोंके बीचमें रक्खा हुआ फूल।]

"अथवा काममनुरूपमस्या वपुषो बल्कलं न पुनरलङ्कारश्रियं न पुष्यति। कुतः—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा बल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥"

[अथवा बल्कल इस रमणीके शरीरके योग्य न होनेपर भी उसके द्वारा इसके शरीरकी शोभा ही हो रही है। क्योंकि—कमलपुष्प सेवारसे घिरा हुआ होने पर भी रमणीय होता है और चन्द्रमण्डलका चिह्न काला होने पर भी उस मण्डलकी शोभाको बढ़ाता है। वैसे ही यह सुंदरी बल्कलसे भी अधिक मनोहर हो रही है। मधुर आकृतिवालोंके लिए सभी चीजें अलंकार हो जाती हैं।]

दूसरे अंकमें राजा विदूषकके आगे शकुन्तलाके रूपका वर्णन करते हैं—

"चित्ते निवेश्य परिकल्पितसत्वयोगान्
रूपोच्चयेन विधिना मनसा कृतानु।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः॥"

[उस क्षीणांगी शकुन्तलाके शरीरसौन्दर्यको स्मरण करके मेरे मनमें यह खयाल आता है कि विधाताने अपने रचे हुए जगत्के सब जीवोंके रूप-समूहको एकत्र करके, मानों संपूर्ण रूपराशि एक ही जगह दिखानेके लिए, उसके द्वारा उस स्त्रीरत्नकी सृष्टि की है।]

फिर कहते हैं—

"अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै—
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः॥"

[वह निर्दोष रूप एक ऐसे फूलके समान है जिसे किसीने सूँघा नहीं, एक ऐसे किसलयके समान है जिसे किसीने नाखूनसे खोंटा नहीं, एक ऐसे रत्नके समान है जिसे किसीने पहना नहीं और ऐसे नवीन मधुके समान है जिसका रस किसीने चखा नहीं। पुण्योंके अखंड फलके समान वह अछूता रूप विधाता न जाने किस भोग करनेवालेको देंगे।]

तीसरे अंकमें विरहपीड़ित शकुन्तलाका वर्णन इस तरह किया गया है—

"स्तनन्यस्तोशीरं प्रशिथिलमृणालैकवलयं
प्रियायाः साबाधं तदपि कमनीयं वपुरिदम्।
समस्तापः कामं मनसिजनिदाघप्रसरयो—
र्न तु ग्रीष्मस्यैवं सुभगमपराद्धं युवतिषु॥"

[स्तनों पर उशीर (खस) रक्खा है, कलाईमें मृणालका एक वलय है और वह भी शिथिल हो रहा है । प्रियाका शरीर पीड़ित होने पर भी कमनीय देख पड़ता है । काम-संताप और घामकी गर्मी समान होने पर भी यह स्पष्ट ही काम-संताप है । कारण, ग्रीष्मजनित संताপमें युवतियोंके शरीरमें ऐसी कमनीयता नहीं रहती ।]

पाँचवें अंकमें राजसभामें आई हुई शकुन्तलाको देखकर दुष्यन्त अपने मनमें सोचते हैं—

" केयमवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या ।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम् ॥ "

[इसका अर्थ पृष्ठ ११२ में लिखा जा चुका है ।]

छठे अंकमें चित्रलिखित शकुन्तलाको देखकर राजा कहते हैं—

" दीर्घापाङ्गविसारिनेत्रयुगलं लीलाञ्चितभ्रूलतं
दन्तान्तःपरिकीर्णहासकिरणज्योत्स्नाविलिप्ताधरम् ।
कर्कन्धुद्युतिपाटलोष्ठरुचिरं तस्यास्तदेतन्मुखं
चित्रेप्यालपतीव विभ्रमलसत्प्रोद्भिन्नकान्तिद्रवम् ॥ "

[दोनों नेत्र दीर्घ कटाक्षोंसे फैले हुएसे हैं, दोनों भौंहें लीलाविलासयुक्त हैं, दाँतोंके भीतर विकीर्ण हास्य-किरणोंकी कान्ति अधरोंमें छाई हुई है, ओंठ पके हुए बेरके फलके समान पाटलवर्ण और रुचिर हैं, और मुखमण्डल पर विभ्रमके कारण निकले हुए चमकीले स्वेद-बिन्दु शोभायमान हैं । चित्रलिखित होने पर भी जान पड़ता है कि प्रिया मुझसे कुछ रही है ।]

फिर कहते हैं—

" अस्यास्तुङ्गमिव स्तनद्वयमिदं निम्नेव नाभिः स्थिता
दृश्यन्ते विषमोन्नताश्च वलयो भित्तौ समायामपि ।

अङ्कं च प्रतिभाति मार्दवमिदं स्निग्धप्रभावाश्चिरं
प्रेम्णा मन्मुखमीषदीक्षत इव स्मेरा च वक्त्रीव माम् ॥ ''

[इसका अर्थ पृष्ठ ४५ में लिखा जा चुका है।]

सबके अन्तमें, सातवें अंकमें, राजा शकुन्तलाको देख रहे हैं--

'' वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति ॥ ''

[इसका अर्थ पृष्ठ ६१ में लिखा जा चुका है।]

भवभूतिने शायद ही कहीं सीताके रूपका वर्णन किया है। उत्तररामचरित भरमें उन्होंने केवल दो बार सीताके बाहरी सौन्दर्यका वर्णन किया है, और दोनों ही मर्तबा सीताके मुखमात्रको अंकित किया है। रामचन्द्र एक बार विवाहके समय सीताके रूपका वर्णन करते हैं—

'' प्रतनुविरलैः प्रान्तोन्मीलन्मनोहरकुन्तलैः
दशनमुकुलैर्मुग्धालोकं शिशुर्दधती मुखम्।
ललितललितैर्ज्योत्स्नाप्रायैरकृत्रिमविभ्रमै-
रकृतमधुरैरम्बानां मे कुतूहलमङ्गकैः ॥ ''

[कपोलोंपर लहराती हुई सूक्ष्म और विरल मनोहर अलकावली, कुन्दकोरक सदृश दन्तपंक्ति और मुग्धदृष्टिसे युक्त मुख-मंडल बहुत ही सुन्दर था। सुंदर चंद्रकिरणसदृश निर्मल, अत्यन्त ललित और अकृत्रिम विभ्रमयुक्त छोटे छोटे अंग अतिशय दर्शनीय थे। उस समय मेरी माताओंको बालिका जानकीका यह अंगसौष्ठव देखकर बड़ा ही आनंद और कौतूहल हुआ था।]

यहाँ रामचंद्र सीताके मुखका ही स्मरण कर रहे हैं, और वह भी इस खयालसे कि जानकी उस रूपसे उनकी माताओंको आनन्ददान करती थीं।

एक जगह तमसा विरहिणी सीताका वर्णन करती है—

" परिपाण्डुदुर्बलकपोलसुन्दरं
दधती विलोलकवरीकमाननम् ।
करुणस्य मूर्तिरिव वा शरीरिणी
विरहव्यथेव वनमेति जानकी ॥ "

[पीले और दुर्बल कपोलोंसे सुन्दर और बिखरी हुई वेणीसे युक्त मुखको धारण किये हुए जानकी मूर्तिमान् करुण रस या सशरीर विरहव्यथा सी बनमें आरही है ।]

यहाँ भी केवल मुखहीका वर्णन है ! और वह भी उनके वियोग दुःखका वर्णन करनेके लिए अंकित किया गया है। अन्य सब जगह राम सीताके गुणोंको ही सोचते हैं । रामने केवल एक श्लोकमें सीताका जो सौन्दर्य-वर्णन किया है, दुष्यन्त कई श्लोकोंमें भी वैसा वर्णन नहीं कर सके । राम कहते हैं—

" इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो-
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः ।
अयं कण्ठे बाहुः शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
किमस्या न प्रेयो यदि पुनरसह्यो न विरहः ॥ "

[यह सीता मेरे घरकी लक्ष्मी और नेत्रोंके लिए अमृतशलाका है । इसका यह स्पर्श शरीरके लिए चंदनरस है । मेरे गलेमें पड़ी हुई इसकी यह भुजा शीतल और चिकनी मुक्तामाला है । इसकी क्या वस्तु प्रेय नहीं है ? सभी हैं । केवल इसका विरह ही असह्य है ।]

राम सोच रहे हैं, सीता उनकी गृहलक्ष्मी हैं और अपनेसे प्रश्न करते हैं कि सीताके विरहमें क्या जीवित रहना संभव है ? उनका सीताके बाहरी रूप पर ध्यान ही नहीं जा सकता । राम उनके रूपका वर्णन कैसे करेंगे जिनके लिए वे कहते हैं—

"म्लानस्य जीवकुसुमस्य विकासनानि
सन्तर्पणानि सकलेन्द्रियमोहनानि।
एतानि तानि वचनानि सरोरुहाक्ष्याः
कर्णामृतानि मनसश्च रसायनानि ॥"

[कमलनयनी सीताके ये वचन मुरझाये हुए जीवनकुसुमको प्रफुल्लित करनेवाले, तृप्तिदायक, सब इन्द्रियोंको मोहित करनेवाले, कानोंके लिए अमृत और मनके लिए रसायन हैं।]

उनके रूपका वर्णन वे कैसे करेंगे जिनके पास रहकर राम सोचते हैं—

"विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रबोधो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारश्चैतन्यं भ्रमयति समुन्मीलयति च" ॥

[मैं यह निश्चय नहीं कर सकता कि जब तुम स्पर्श करती हो, तब तुम्हारे प्रत्येक स्पर्श पर मैं सुख पा रहा हूँ या दुःख, जाग रहा हूँ या सो रहा, मेरे शरीरमें विष दौड़ रहा है, या कोई नशा चढ़ रहा है। मेरी इन्द्रियाँ मूढ़सी हो रही हैं। विकार जो है वह चैतन्यको भ्रमित भी करता है और फिर उन्मीलित भी कर देता है।]

उनके रूपका वर्णन वे कैसे कर सकते हैं जिनका स्पर्श रामके शब्दोंमें ऐसा है कि—

"प्रश्च्योतनं नु हरिचन्दनपल्लवानां
निष्पीडितेन्दुकरकन्दलजो नु सेकः।
आतप्तजीविततरोः परितर्पणो मे
सञ्जीवनौषधिरसो नु हृदि प्रसिक्तः ॥"

[सीताका अंगस्पर्श हरिचन्दनके नव पल्लवोंका बहा हुआ रस है, या चंद्रमाकी किरणें निचोड़कर उनके अर्कका किया हुआ सिंचाव है, अथवा मेरे तपे हुए जीवनवृक्षको हरा करनेके लिए हृदयमें संजीवन औषधके रसका सींचा जाना है।]

और भी कहा है—

" प्रसाद इव मूर्तस्ते स्पर्शः स्नेहार्द्रशीतलः।
अद्याप्येवार्द्रयति मां त्वं पुनः क्वासि नन्दिनि॥ "

[तुम्हारा स्नेहसिक्त शीतल स्पर्श मूर्तिमान् प्रसन्नताके समान है, और वह अब तक मुझे आर्द्र बना रहा है। हे आनन्ददायिनी सीता, मगर तुम इस समय कहाँ हो।]

उनके सौन्दर्य-वर्णनका प्रयोजन ही क्या है जिनके लिए राम खयाल करते हैं—

" उत्पत्ति-परिपूतायाः किमस्याः पावनान्तरैः।
तीर्थोदकञ्च वह्निश्च नान्यतः शुद्धिमर्हतः॥ "

[यह सीता जन्मसे ही शुद्ध अर्थात् अयोनिजा है। इसको अन्य शुद्ध करनेवाले पावन पदार्थोंकी क्या जरूरत है? तीर्थके जलकी और अग्निकी शुद्धि अन्यसे नहीं हो सकती। वे स्वयं पावन पवित्र हैं।]

ऐसी सीताकी अन्य वर्णना क्या हो सकती है?

राम 'कालिन्दी-तटके वट' को नहीं भूल सकते, क्यों? इस-लिए कि—

" अलसलुलितमुग्धान्यध्वसञ्जातखेदा-
दशिथिलपरिरंभैर्दत्तसंवाहनानि।
परिमृदितमृणालीदुर्बलान्यंगकानि
त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता॥ "

[प्रिये, यह वही स्थान है, जहाँ तुम अपने मर्दित कमलनालके समान दुर्बल, मार्गकी थकावटसे अलस, हिलने-चलनेमें असमर्थ, मुग्ध और मेरे गाढ़ आलिंगनद्वारा दबाये हुए सुन्दर अंगोंको मेरे वक्षःस्थलपर रखकर सो गई थीं।]

वास्तवमें बात यह है कि सीताका बाहरी रूप देखनेका अवसर ही भवभूतिको नहीं है। वे सीताके गुणों पर ही मुग्ध हैं। भवभूतिका यह वर्णन इतना पवित्र, इतना उच्च है कि वे अवश्य सीताको मातृभावसे देखते हैं। माताके रूपका वर्णन ही और क्या हो सकता है? सर्वाङ्गमें, भीतर-बाहर, बातचीत और हावभावमें, माता सर्वत्र माता ही हैं, और कुछ नहीं।

किन्तु कालिदासके रूप-वर्णनमें एक विशेष प्रकारकी निपुणता यह देख पड़ेगी कि उन्होंने अपने नाटकमें सर्वत्र ही शकुन्तलाके रूपका वर्णन नाटकत्वके हिसाबसे किया है। दुष्यन्तके मनकी अवस्था और उनकी कार्यावली समझनेके लिए ऐसे वर्णनका विशेष प्रयोजन था। उन्होंने केवल कवित्वके हिसाबसे कहीं पर भी शकुन्तलाके रूपका वर्णन नहीं किया। प्रथम अंकमें, दुष्यन्त शकुन्तलाके ऊपर क्यों आसक्त हुए, इसका कारण कविने दिखलाया। शकुन्तला कुरूपा या वृद्धा होती, तो दुष्यन्त कभी उसपर अनुरक्त न होते। इसीसे रूपवती शकुन्तलाकी उठती हुई जवानीके वर्णनका प्रयोजन था। दूसरे अंकमें दुष्यन्त अपने सखाके आगे जिस रूपका वर्णन करते हैं, उसमें कवि यह दिखाता है कि राजा कहाँतक विगलित हो गये हैं, उनपर उस रूपका असर कहाँतक पड़ा है। वे यहाँ तक मुग्ध और इसी कारण आपेसे बाहर हो रहे हैं कि शकुन्तला पर अपने आसक्त होनेकी बातको भी छिपाकर नहीं रख सकते। किन्तु इस रूप-

वर्णनमें अंग-प्रत्यंगका वर्णन नहीं है। कारण, वे अंग-प्रत्यंग उस समय उनकी दृष्टिके वहिर्गत हैं। पाँचवें अंकमें राजा फिर शकुन्तलाको देख रहे हैं। फिर नातिपरिस्फुट शरीर-लावण्यकी ओर उनकी दृष्टि है। किन्तु उसी समय उन्होंने अपनेको सँभाल लिया। बादको शकुन्तलाका रोष व्यक्त करनेके लिए जितने वर्णनका प्रयोजन था उससे एक इंच भी आगे कविने कदम नहीं रक्खा! इस समय वे राजकाजसे छुट्टी लेकर शिकार करने नहीं निकले हैं। इस समय वे आलस्यजनित कामसे अंधे नहीं हो रहे हैं। इस समय वे राजा हैं, प्रजापालक हैं, विचारक हैं। अतः उन्हें रूपके बारेमें सोचनेका समय नहीं है। सप्तम अंकमें भी राजाके पश्चात्तापपूत हृदयमें कामकी ताड़ना नहीं है। उनकी बाहरका रूप देखकर मोहित होनेकी अवस्था चली गई हैं। प्रपीड़ित, प्रत्याख्यात, अपमानित शकुन्तला उनके सामने खड़ी है। और यही बात उनके खयालमें आ रही है। उनका लक्ष्य विरहव्रतधारिणी शकुन्तलाके पवित्र चित्तकी ओर है।

पहलेसे अन्तपर्यन्त इस रूप-वर्णनमें राजाकी मानसिक अवस्था-परंपराओंका एक श्रेणीबद्ध इतिहास मौजूद है। कैसा आश्चर्यजनक कौशल है! कैसा अपूर्व नाटकत्व है!

यों तो भवभूतिने सीताके बाह्यरूपका वर्णन किया ही नहीं; किन्तु कुछ श्लोकोंमें सीताके मनकी पवित्रता, तन्मयता, पतिप्राणता, स्वर्गीयता आदि जो कुछ भवभूतिने दिखाया है, वह शकुन्तलामें नहीं है।

ऊपर उद्धृत किये हुए वर्णन स्थिर सौन्दर्यके हैं। वास्तवमें वे एक तरहके शब्दचित्र हैं। पढ़ते पढ़ते जान पड़ता है कि सामने एक चित्रपट दिख रहा है। इसके सिवा और भी एक प्रकारके वर्णन हैं, जो सजीव मूर्तिके—चलते-फिरते सौन्दर्यके चित्र हैं। जैसे—राजा भ्रमरकी सताई हुई शकुन्तलाको देखते हैं—

"यतो यतः षट्चरणोऽभिवर्तते
ततस्ततः प्रेरितलोललोचना।
विवर्त्तितभ्रूरियमद्य शिक्षते
भयादकामापि हि दृष्टिविभ्रमम्॥"

[जिधर जिधर भ्रमर जाता है, उधर उधर यह शकुन्तला अपने चंचल नेत्रोंको पहुँचा रही है। यह कामशून्य होनेपर भी, इस भयकी अवस्थामें, मानों भ्रूविवर्तनके द्वारा दृष्टि-विभ्रम सीख रही है।]

अपि च—

"चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुधा वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करं व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती॥"

[राजा कहते हैं—अरे भ्रमर, तू चंचल कटाक्षोंवाली कंपमान प्रियाकी दृष्टिको बारंबार छू रहा है, एकान्तमें बातचीत करनेवाले अथवा रहस्यालाप करनेवाले प्रिय सखाकी तरह कानोंके पास विचरता हुआ मृदु गुंजन कर रहा है और यह बारंबार हाथ चलाकर तुझे उड़ाती है, तो भी तू इसके रति-सर्वस्व अधरको पी रहा है। सच तो यह है कि हे मधुकर, हम तत्त्वकी खोज करनेमें योंही रह गये; फल-भोग करनेके कारण कृती तो तू ही है।]

वृक्षोंको सींचते-सींचते थकी हुई शकुन्तलाको देखकर राजा कहते हैं—

"स्रस्तांसावतिमात्रलोहिततलौ बाहू घटोत्क्षेपणा-
दद्यापि स्तनवेपथुं जनयति श्वासः प्रमाणाधिकः।

वद्धं कर्णशिरीषरोधि वदने घर्माम्भसां जालकं
बन्धे स्रंसिनि चैकहस्तयमिताः पर्याकुला मूर्द्धजाः ॥"

[इस (शकुन्तला)के दोनों कंधे अतिशय अवनत हो गये हैं, और दोनों हथेलियां अत्यन्त लाल हो गई हैं, वारंवार घड़ा उठानेके कारण श्वासप्रश्वास स्वाभाविक परिमाणसे अधिक आ रहे हैं, और इसके दोनों स्तन अभीतक काँप रहे हैं। मुखमंडलमें पसीनेकी बूँदें कर्ण-स्थित शिरीषपुष्पको अवरुद्ध करनेवाले अस्फुट कोरकसमूहका आकार धारण किये हुए हैं। और, केशबन्धन खुल जानेसे यह बिखरे बालोंको एक हाथसे रोके हुए है।]

अपनी ओर आकृष्ट शकुन्तलाकी तरफ देखकर राजा कहते हैं—

" वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभिः
कर्णं ददात्यवहिता मयि भाषमाणे।
कामं न तिष्ठति मदाननसंमुखी सा
भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः ॥"

[यद्यपि यह शकुन्तला मेरी बातका जवाब नहीं देती, लेकिन मैं जब कुछ बोलता हूँ, तब एकाग्र होकर उधर ही कान लगाकर सुनने लगती है। और यद्यपि मेरे मुखके सामने चार आँखें करके नहीं देखती, लेकिन यह निश्चित है कि इसकी दृष्टि अधिक देरतक दूसरी ओर भी स्थिर नहीं रहती है।]

फिर कहते हैं—

" न तिर्य्यगवलोकितं भवति चक्षुरालोहितं
वचोऽपि परुषाक्षरं न च पदेषु संगच्छते।
हिमार्त्त इव वेपते सकल एव बिम्बाधरः
प्रकामविनते भ्रुवौ युगपदेव भेदं गते ॥"

[इसका अर्थ पृष्ठ ५४ में लिखा जा चुका है ।]

दूसरे अंकमें प्रणयिनी शकुन्तलाका वर्णन इस तरह है—

" अभिमुखे मयि संहृतमीक्षितं हसितमन्यनिमित्तकृतोदयम् ।
विनयवारितवृत्तिरतस्तया न विवृतो मदनो न च संवृतः ॥ "

[जब मैं सामने हुआ तब शकुन्तलाने दृष्टि हटा ली, साथ ही अन्य किसी बातको उपलक्ष करके हँस भी दिया । इस तरह विनय (लज्जा-संकोच) के द्वारा कामवृत्ति निवारित होनेके कारण प्रियाने मदनके भावको न तो प्रकट ही किया और न छिपाया ही ।]

फिर कहते हैं—

" दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे
तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा ।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती
शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम् ॥ "

[जहाँ कोई मौका न था वहाँ पैरमें कुशांकुरका काँटा लग जानेका बहाना करके वह सुंदरी कुछ दूर जाकर ही ठिठक रही । और, वृक्ष-शाखामें वल्कलवस्त्र न फँसने पर भी उसके छुड़ानेके बहाने उसने अपने मुखपरका आवरण खोल दिया ।]

छठे अंकमें प्रत्याख्यानके उपरान्त राजा दुष्यन्त शकुन्तलाके बारेमें सोचते हैं—और उस प्रत्याख्यानकी घटनाको मानों प्रत्यक्ष देखते हैं—

" इतः प्रत्यादेशात् स्वजनमनुगन्तुं व्यवसिता
मुहुस्तिष्ठेत्युच्चैर्वदति गुरुशिष्ये गुरुसमे ।
पुनर्दृष्टिं बाष्पप्रकरकलुषामर्पितवती
मयि क्रूरे यत्तत्सविषमिव शल्यं दहति माम् ॥"

[मैंने जब शकुन्तलाको जवाब दे दिया, तब वह स्वजनोंके पीछे जानेको तैयार हुई। उसके बाद जब गुरुसम गुरुशिष्यने ऊँचे स्वरसे कहा कि " ठहरो!" तब उसने आंसुओंसे भरी हुई दीन दृष्टिसे मुझ क्रूरकी ओर देखा। उसकी वह दीन विह्वल दृष्टि मुझे विषयुक्त शल्यकी तरह इस समय भी जला रही है।]

ऊपर उद्धृत श्लोकोंमें भी शकुन्तलाका वर्णन दुष्यन्तके मनकी विभिन्न अवस्थाओंके साथ एक सुरमें बँधा हुआ है। पहले और दूसरे अंकमें राजा कामुक है, पाँचवें अंकमें धार्मिक विचारक है, और छठे अंकमें अनुतप्त है।

उत्तरचरितमें बालिका सीता मयूर किस तरह नचाती थी, इसका वर्णन भवभूतिने इस तरह किया है—

" भ्रमिषु कृतपुटान्तर्मण्डलावृत्तिचक्षुः
प्रचलितचतुरभ्रूताण्डवैर्मण्डयन्त्या।
करकिसलयतालैर्मुग्धया नर्त्यमानः
सुतमिव मनसा त्वां वत्सलेन स्मरामि॥"

[हे मयूर, जब तुम मण्डलाकार घूमते थे, तब मुग्धचित्ता प्रियाके चक्षु भी साथ ही साथ पलकोंके भीतर गोलाकार फिरते थे और भौंहोंके निपुण नृत्यसे वे बड़े ही सुन्दर जान पड़ते थे। प्रिया कर-किसलयोंके द्वारा ताल देकर तुम्हें अपने सन्तानके समान नचाती थी। मैं स्नेहपूर्ण हृदयसे तेरा स्मरण करता हूँ।]

अंग संचालनके द्वारा मनका भाव प्रकट करनेके संबंधमें कालि-दास अद्वितीय हैं। इस विषयमें उनके साथ भवभूतिकी तुलना ही नहीं हो सकती।

नारी-रूपके वर्णनमें भवभूतिकी एक विशेषता है। कालिदास और अन्यान्य बहुतसे संस्कृत-कवियोंके नारी-सौन्दर्य-वर्णनमें लालसाका भाव भरा हुआ है। किन्तु भवभूतिकृत रूप-वर्णन सर्वत्र ही पहाड़ी झरनेके समान निर्मल और पवित्र है। कालिदास रमणीके बाहरी रूपमें ही मस्त हैं, पर भवभूतिकी दृष्टि स्त्रीके अन्तःकरणके सौन्दर्य-पर है। यदि नारी '**तुङ्गस्तनी**,' '**श्रोणीभारादलसगमना**,' '**बिम्बाधरा**' हुई तो बस, कालिदासको और कुछ न चाहिए। अपने काव्योंमें जगह जगहपर रमणीके अंगोंका वर्णन करनेमें कालिदासको बड़ा ही आनन्द आता है। किन्तु भवभूतिकी दृष्टिमें नारी '**गेहे-लक्ष्मीः**' है, उसके वचन '**कर्णामृतानि**' हैं, उसका स्पर्श '**संजीवनौषधिरसः, स्नेहार्द्रशीतलः**' है, उसका आलिंगन '**सुखमिति वा दुःखमिति वा**' है। कालिदासका रूपवर्णन प्रकाश अवश्य है, लेकिन वह दीपकका रक्तवर्ण प्रकाश है। भवभूतिका रूपवर्णन उज्ज्वल बिजलीका प्रकाश है। कालिदास जब पृथ्वीपर चलते हैं, उस समय भवभूति मानों उनसे बहुत ऊपर आकाशमें विचरण करते हैं। कालिदासकी दृष्टिमें नारी भोगकी सामग्री है और भवभूतिके निकट पूजनीय देवी है।

किन्तु यह हम पहले ही कह आये हैं कि कालिदासने जो विषय छाँट लिया था, उसमें उनके लिए कोई दूसरा उपाय ही नहीं था। उनका नायक एक कामुक पुरुष है। भवभूतिका नायक देवता है। दुष्यन्त तपोवनमें आते ही मदनोत्सव करने बैठे थे। वे शकुन्तलाका सरल निर्मल तापस भाव कहाँसे देख पाते? किन्तु राम बहुत समय तक सीताके साथ रहे थे। उन्होंने सीताके निर्मल चरित्र, असीम भरोसे और अगाध प्रेमका अनुभव अच्छी तरह प्राप्त कर

लिया था। उनका लक्ष्य सीताके बाहरी रूपपर कैसे हो सकता था ?

कालिदास इस अवस्थामें अपनेको यथासंभव बचा गये हैं। उनके नाटकके लिए जितना प्रयोजन था उससे अधिक एक पग भी वे अग्रसर नहीं हुए। महाकवि जो होते हैं, वे कल्पनाको उच्छृंखल नहीं होने देते। वे कल्पनाकी गतिकी 'रास' खींचे रहते हैं। कालिदासने जो कुछ लिखा है वह तो अपूर्व है ही; किन्तु यह सोचकर देखनेसे उनके कृतित्व और गुणोंपर अपार आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता कि वे कितना लिख सकते थे, मगर लिखा नहीं। विषम गिरिसंकटके बिल्कुल किनारे परसे उन्होंने अपनी कल्पनाके रथको बड़े वेगसे चलाया है, मगर गिरनेकी कौन कहे वे कहींपर डगमगाये भी नहीं। भवभूति तो इस राह पर गये ही नहीं। अतएव उनके लिए भयका कोई कारण ही नहीं था। उन्होंने जान बूझकर ही प्रेमके स्वर्गराज्यमें अपनी देवीको बिठाया था।

कालिदासने पुरुष-सौन्दर्यका वर्णन बहुत ही कम किया है। केवल दूसरे अंकमें सेनापतिके मुखसे राजाके रूपका वर्णन कराया है—

" अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरकर्मा
रविकिरणसहिष्णुः स्वेदलेशैरभिन्नः।
अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं
गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति ॥ "

[इसका अर्थ पृष्ठ ४० में लिखा जा चुका है।]

भवभूतिने भी एकबार रामके रूपका वर्णन सीताके मुखसे कराया है। चित्रलिखित रामकी मूर्ति देखकर सीता कहती हैं।—

"अहो दलन्नवनीलोत्पलश्यामलस्निग्धमसृणशोभमानमांसलेन देहसौभाग्येन विस्मयस्तिमिततातदृश्यमानसुन्दरश्रीरनादरखण्डितशंकरशरासनः शिखण्डमुग्धमुखमण्डल आर्यपुत्र आलिखितः।"

[इसका अर्थ पीछे लिखा जा चुका है।]

और भी एक बार लवके मुखसे रामके रूपका वर्णन कराया है—

"अहो पुण्यानुभावदर्शनोऽयं महापुरुषः—
आश्वासस्नेहभक्तीनामेकमालंबनं महत्।
प्रकृष्टस्यैव धर्मस्य प्रसादो मूर्त्तिमत्तरः॥"

[अहो! ये महापुरुष ऐसे हैं कि इनका दर्शन बड़े पुण्यके प्रभावका फल है। ये आश्वास, स्नेह और भक्तिके एक मात्र महत् अवलम्बन हैं। ये उत्कृष्ट धर्मकी मूर्तिमती प्रसन्नता जान पड़ते हैं।]

कालिदासका वर्णन एक दृढ मांसपेशीवाले महाकाय वीरके लक्षणका निर्देश मात्र है। किन्तु भवभूतिका वर्णन एक चित्र है।

"आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासै-
रव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन्।
अंकाश्रयप्रणयिनस्तनयान्वहन्तो
धन्यास्तदङ्गरजसा पुरुषा भवन्ति॥"

[जिनके दन्तमुकुल अकारणहाससे कुछ कुछ दीख जाते हैं, जिनके वचन अव्यक्त अक्षरोंसे रमणीय होते हैं, और जो सदा गोदमें रहना पसंद करते हैं, ऐसे बालकोंको गोदमें लेकर उनके अंगकी धूलसे धूसरित होनेवाले पुरुष धन्य होते हैं!]

केवल एक ही श्लोक है, किन्तु कैसा सुन्दर है! दुष्यन्तकी मानसिक अवस्थाके साथ कैसा मेल खाता है!

भवभूतिमें एक बेढब दोष यह है कि वे जब कोई वर्णन शुरू करते हैं, तब रुकना तो जानते ही नहीं। श्लोकके ऊपर श्लोक बराबर लिखते चले जाते हैं। यह उनका दोष लव-कुशके वर्णनमें विशेष रूपसे देख पड़ता है। उत्तरचरितके षष्ठ अंकमें रामचंद्र लवको देखकर कहते हैं—

"त्रातुं लोकानिव परिणतः कायवानस्त्रवेदः
क्षात्रो धर्मः श्रित इव तनुं ब्रह्मकोषस्य गुप्त्यै।
सामर्थ्यानामिव समुदयः सञ्चयो वा गुणाना-
माविर्भूय स्थित इव जगत्पुण्यनिर्माणराशिः॥"

[यह लोकोंकी रक्षा करनेके लिए शरीरधारी आयुर्वेद है, य वेदकोषकी रक्षाके लिए मूर्तिमान् क्षत्रिय धर्म है? यह सामर्थ्योंका समुदाय अथवा गुणोंका संचय आविर्भूत हुआ होकर स्थित है, या जगत्का पुण्य-पुंज है?]

कुशको देखकर राम सोचते हैं—

"अथ कोऽयमिन्द्रमणिमेचकच्छवि-
र्ध्वनिनैव दत्तपुलकं करोति माम्।
नवनीलनीरधरधीरगर्जित-
क्षणबद्धकुड्मलकदम्बडम्बरम्॥"

[यह इन्द्रनील मणिके समान श्यामलकान्ति बालक कौन है? इसका शब्द सुनकर ही मेरा शरीर इस तरह पुलकित हो रहा है, जिस तरह नये नील बादलोंके धीर गर्जनसे कदम्बसमूहके मुकुल खिल उठते हैं।]

इसके बाद दोनोंको देखकर कहते हैं—

"मुक्ताच्छदन्तच्छविसुन्दरीयं
सैवोष्ठमुद्रा स च कर्णपाशः।

नेत्रे पुनर्यद्यपि रक्तनीले
तथापि सौभाग्यगुणः स एव ॥"

[मोतियोंके समान स्वच्छ दशनकान्तिके द्वारा सुन्दर वैसी ही (सीताके समान) इनकी ओष्ठमुद्रा है और वैसे ही इनके कर्णपाश हैं। इनके नेत्र यद्यपि ललाई लिये हुए नीलवर्ण हैं, तथापि सौभाग्य-गुण वही है, और वैसे ही नयनोंको आनन्ददायक हैं।]

दोनों पुत्रोंके साथ रामकी पहली भेंट एक अपूर्व चित्र है। हम एक ओर रामको और एक ओर उनके दोनों पुत्र लव-कुशको प्रत्यक्ष सा देखते हैं। जैसे एक तरफ सिंह और दूसरी तरफ दो सिंहशावक खड़े हुए परस्पर मुग्ध विस्मित दृष्टिसे देख रहे हों।

पाँचवें अंकमें, शत्रुसेनासे घिरे हुए लवका वर्णन चन्द्रकेतु इस तरह करते हैं—

"किराति कलितकिञ्चित्कोपरज्यन्मुखश्री-
रनवरतनिगुञ्जत्कोटिना कार्मुकेन।
समरशिरसि चञ्चत्पञ्चचूडश्चमूना-
मुपरि शरतुषारं कोऽप्ययं वीरपोतः ॥"

[यह पञ्च चूड़ाधारी वीर बालक कौन है, जिसका मुख किञ्चित् कोपसे लाल हो रहा है और जो लगातार टंकार करते हुए धनुषसे युद्धके मैदानमें मेरी सेनाके ऊपर ओला जैसी बाण-वर्षा कर रहा है?]

"मुनिजनशिशुरेकः सर्वतः सैन्यकाये
नव इव रघुवंशस्याप्रसिद्धः प्ररोहः।
दलितकरिकपोलग्रन्थिटंकारघोरं
ज्वलितशरसहस्रः कौतुकं मे करोति ॥"

[यह मुनिबालक अकेला है और इसके चारों ओर असंख्य सेना है। रघुवंशके ही किसी अप्रसिद्ध नवीन अंकुरके समान यह बालक प्रज्वलित सहस्रों बाणोंसे हाथियोंकी कपोल-ग्रंथियोंको विदीर्ण करनेसे जो घोर चटचट शब्द होता है उससे मेरे मनमें कौतुक उत्पन्न कर रहा है।]

चन्द्रकेतु फिर कहते हैं—

" दर्पेण कौतुकवता मयि बद्धलक्ष्यः
पश्चाद्बलैरनुसृतोऽयमुदीर्णधन्वा।
द्वेधा समुद्धतमरुत्तरलस्य धत्ते
मेघस्य माघवतचापधरस्य लक्ष्मीम् ॥"

[यह धनुष चढ़ाये हुए वीर बालक कौतुकयुक्त दर्पके साथ मेरी ओर बद्धलक्ष्य हो रहा है, और पीछेसे मेरी असंख्य सेना इसका पीछा कर रही है। इस समय यह ऐसा मालूम होता है, जैसे दो तरफा प्रचण्ड आँधीसे चंचल और इन्द्रधनुषसे युक्त मेघ हो।]

पुनश्च:—

" संख्यातीतैर्द्विरदतुरगस्यन्दनस्थैः पदातै-
रत्रैकस्मिन्कवचनिचितैर्मेध्यचर्मोत्तरीये।
कालज्येष्ठैरभिनववयःकाम्यकाये भवद्भि-
र्योऽयं बद्धो युधि परिकरस्तेन वो धिग्धिगस्मान् ॥"

[तुम सब कवचधारी, अवस्थामें बड़े, असंख्य, हाथियों घोड़ों रथों पर सवार और पैदल सब मिलकर इस अकेले मृगचर्मधारी सुकुमार बालक योद्धासे युद्ध करनेको तैयार हो, इसलिए तुमको धिक्कार है, और मुझको भी धिक्कार है!]

अपि च—

" अयं हि शिशुरेककः समरभारभूरिस्फुरत्-
करालकरकन्दलीकलितशस्त्रजालैर्बलैः।

क्वणत्कनककिंकिणीझणझणायितस्यन्दनै-
रमन्दमददुर्दिनद्विरदवारिदैरावृतः ॥"

[इस भीषण समरमें चमकते हुए कराल शस्त्रोंको धारण करनेवाले योद्धा लोगोंने, कनककिंकिणियोंकी झनझनाहटसे अलंकृत रथोंने और लगातार मद बरसाकर दुर्दिनकी छटा दिखानेवाले मेघतुल्य हाथियोंके समूहने इस अकेले बालकको चारों ओरसे घेर लिया है !]

तथा—

"आगुञ्जद्गिरिकुंजकुंजरघटाविस्तीर्णकर्णज्वरं
ज्यानिर्घोषममन्ददुन्दुभिरवैराध्मातमुज्जृम्भयन् ।
वेल्लद्भैरवरुण्डमुण्डनिकरैर्वीरो विधत्ते भुव-
स्तृप्यत्कालकरालवक्त्रविघसव्याकीर्यमाणा इव ॥"

[इस वीरकी प्रत्यंचाका शब्द सुनकर गिरिकुंजवासी गजपुंज भयके मारे इस प्रकार चिंघाड़ता है कि उससे कान फटे जाते हैं। घोरतर दुन्दुभिनादसे उस प्रत्यंचा-शब्दको बारबार बढ़ाता हुआ यह बालक मानों अघाये हुए कराल कालके वदनसे बाहर पड़कर बिखरे हुए रुण्ड-मुण्ड-समूहके द्वारा रणभूमिको भर रहा है ।]

सुमन्त्र चन्द्रकेतुसे कहते हैं—"कुमार, पश्य पश्य—

व्यपवर्त्तत एष बालवीरः पृतनानिर्मथनात्त्वयोपहूतः ।
स्तनयित्नुरवादिभावलीनामवमर्दादिव दृप्तसिंहशावः ॥"

[कुमार, देखो देखो, जैसे बलगर्वित सिंहशावक मेघगर्जन सुनकर गजसमूहको छिन्न भिन्न करनेसे प्रतिनिवृत्त हो जाता है, वैसे ही यह वीर बालक तुम्हारे आह्वानको सुनकर सेनासंहारसे प्रतिनिवृत्त होकर तुम्हारी ओर आ रहा है ।]

भवभूतिका यह वर्णन हद दर्जेका है। किन्तु इसे नाटकके लिए उपयुक्त नहीं कह सकते। जो वर्णन नाटककी आख्यायिकाको आगे नहीं बढ़ाता, वह नाटकमें त्याज्य है। किन्तु यदि कवित्वकी दृष्टिसे देखा जाय तो इसके आगे कालिदासकृत बालक सर्वदमनके रूपका वर्णन निष्प्रभ जान पड़ेगा।

शायद कालिदासने काव्यके हिसाबसे दुष्यन्तपुत्रके रूपका वर्णन करनेके लिए प्रयास ही नहीं किया। उस बालकको देखकर दुष्यन्तके मनमें जो भाव उठे थे, उनका वर्णन करना ही कालिदासका मुख्य उद्देश्य था। क्योंकि वे काव्य लिखने नहीं बैठे थे, नाटक लिख रहे थे। नाटकत्वके हिसाबसे उस दृप्त शिशुके वर्णनकी जितनी जरूरत थी, उससे अधिक एक पग भी वे अग्रसर नहीं हुए। किन्तु नाटकत्वको बनाये रखकर भी भावभंगिमा, वचन और दृष्टिमें उस दृप्त शिशुके तेज और दर्पको अंकित करनेका उन्हें यथेष्ट मौका मिला था। उस सुयोगको उन्होंने जानबूझकर हाथसे जाने दिया। हम कालिदासके वर्णनको पढ़कर सर्वदमनके चेहरेकी धारणा नहीं कर सकते। किन्तु भवभूतिके लव और कुशको हम प्रत्यक्ष सा देखते हैं। इतना स्पष्ट देखते हैं कि उनके ऊपर पाठकोंके हृदयमें भी गहरे वात्सल्य रसका उदय हो आता है,—रामके तो होना ही चाहिए। यह स्वीकार ही करना पड़ता है कि वात्सल्य रसमें भवभूतिके आगे कालिदास अत्यन्त क्षुद्र हैं।

नारी-रूप-वर्णनमें कालिदास और पुरुष या शिशुके रूपवर्णनमें भवभूति श्रेष्ठ जान पड़ते हैं।

जीवजन्तुओंके वर्णनमें कालिदास सिद्धहस्त हैं—

" ग्रीवाभंगाभिरामं मुहुरनुपतितस्यन्दने दत्तदृष्टिः
पश्चार्द्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति॥"

[देखो, यह मृग मनोहर भावसे गर्दन घुमाकर शीघ्र अपने पास पहुँचे हुए रथको बारंबार निहार रहा है और मेरे ऊपर कहीं बाण न आपड़ें इस भयसे पिछला भाग समेटकर मानों शरीरके अगले भागमें घुसा जा रहा है। श्रमके कारण मुख खुल जानेसे इसके आधे चबाये हुए घासके कौर मार्गमें गिरते जा रहे हैं। यह ऐसी जोरकी छलाँगें भर रहा है कि मानों आकाशमार्गमें अधिक और पृथ्वीतल पर कम चल रहा है।

इसके बाद घोड़ोंका वर्णन लीजिए—

" मुक्तेषु रश्मिषु निरायतपूर्वकाया
निष्कम्पचामरशिखा निभृतोर्द्ध्वकर्णाः।
आत्मोद्धतैरपि रजोभिरलंघनीया
धावन्त्यमी मृगजवाक्षमयेव रथ्याः॥"

[रास ढीली होनेके कारण इनके शरीरका अगला भाग अधिक चौड़ा हो रहा है, इनकी बालोंकी शिखायें निष्कम्प हैं, और कान ऊपर उठे हुए निश्चल हैं। ये रथके घोड़े मृगोंकी तरह ऐसे वेगसे दौड़ रहे हैं कि इनकी टापोंसे उड़ी हुई धूल भी इनसे आगे नहीं जा सकती।]

ये दोनों वर्णन इतने सजीव हैं कि कोई भी चित्रकार इन वर्णनोंको पढ़कर ही उक्त घोड़ोंके मनोहर चित्र खींच सकता है।

भवभूति भी यज्ञके घोड़ेका वर्णन करते हैं—

"पश्चात्पुच्छं वहति विपुलं तच्च धूनोत्यजस्रं
दीर्घग्रीवः स भवति खुरास्तस्य चत्वार एव।
शष्पाण्यत्ति प्रकिरति शकृत्पिण्डकानाम्रमात्रान्
किं व्याख्यातैर्व्रजति स पुनर्दूरमेह्येहि यामः॥"

[लवसे उसके साथी लड़के कहते हैं—उस घोड़ेकी पूँछ पीछेकी ओर बहुत भारी है, और वह उसे बारंबार हिलाता है। उसकी गर्दन लंबी है और खुर भी चार ही हैं। वह घास खाता है, और आम्रफलों जैसा मलत्याग करता है। अब अधिक वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं—वह घोड़ा दूर निकला जा रहा है। आओ आओ, चलें।]

यह उत्तम घोड़ेके प्रयोजनीय गुणोंकी एक फेहरिस्त भर है। वर्णन उत्तम नहीं हुआ। जीवजन्तुओंके वर्णनमें उत्तररामचरित अभिज्ञान-शकुन्तलसे निकृष्ट जान पड़ता है।

कालिदासने अपने नाटकमें जड़-प्रकृतिका वर्णन शायद ही कहीं किया है। वे प्रथम अंकमें रथकी गतिका वर्णन करते हैं—

"यदालोके सूक्ष्मं व्रजति सहसा तद्विपुलतां
यदर्द्धे विच्छिन्नं भवति कृतसन्धानमिव तत्।
प्रकृत्या यद्वक्रं तदपि समरेखं नयनयो-
र्न मे दूरं किञ्चित् क्षणमपि न पार्श्वे रथजवात्॥"

[रथके वेगके कारण जो दूरसे सूक्ष्म देख पड़ता था वह सहसा वृहत् हो जाता है, जो बीचमें विच्छिन्न है वह सहसा संयुक्तसा दिखाई पड़ता है, जो असलमें टेढ़ा है वह आँखोंको समरेखा सा प्रतीत होता है। कोई भी चीज क्षणभरको न मुझसे दूर ही रहती है और न पास ही रहती है।]

रथ वेगसे जानेपर आसपास प्रकृतिके आकारमें शीघ्रताके साथ जो कुछ परिवर्त्तन होता है, उसका इस श्लोकमें एक सुंदर, सूक्ष्म और ठीक ठीक वर्णन है। इसके बाद कालिदास तपोवनका वर्णन करते हैं—

"नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिंगुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगाः-
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यंदरेखांकिताः॥"

[वृक्ष-कोटरोंके भीतर रहनेवाले शुकशावकोंके मुखसे गिरे हुए नीवार-कण तरुओंके तले पड़े हुए हैं। कहीं कहीं चिकने पत्थरके टुकड़े पड़े हैं, जो अपनी चिकनाहटसे यह सूचित करते हैं कि उनसे इंगुदीके फल तोड़े गये हैं। मृग विश्वासके कारण रथ-शब्दको सुनकर भी भागते नहीं हैं—खड़े रह जाते हैं। जलाशयोंके मार्ग आश्रमवासियोंके शरीरपरके वल्कलोंकी शिखाओंमेंसे बहे हुए जलकी रेखाओंसे अंकित हो रहे हैं।]

अपि च—

"कुल्यांभोभिः पवनचपलैः शाखिनो धौतमूला
भिन्नो रागः किसलयरुचामाज्यधूमोद्गमेन।
एते चार्वागुपवनभुवि च्छिन्नदर्भांकुरायां
नष्टाशङ्का हरिणशिशवो मन्दमन्दं चरन्ति॥"

[और भी देखो—क्षुद्र जलाशयोंका जल पवन संचालित होकर वृक्षोंकी जड़ोंको धो रहा है। हवनके धूमने नवकिसलयोंके अरुण वर्णको मलिन बना दिया है। छिन्न कुशांकुरयुक्त उपवनभूमिमें ये हरिण-शिशु निःशंक होकर अत्यंत धीमी चालसे विचर रहे हैं।]

इस वर्णनकी मनोहरता और यथार्थता शायद तपोवनको देखे विना अच्छी तरह समझमें नहीं आ सकती ।

राजा स्वर्गसे पृथ्वीपर उतरनेके समय पृथ्वीको देखते हैं—

**"शैलानामवरोहतीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी
पर्णाभ्यन्तरलीनतां विजहाति स्कन्धोदयात्पादपाः ।
सन्धानं तनुभावनष्टसलिलव्यक्ता व्रजन्त्यापगाः
केनाप्युत्क्षिपतेव पश्य भुवनं मत्पार्श्वमानीयते ॥"**

[जैसे सारे पर्वत ऊपरको उठ रहे हैं और उनके शिखरोंसे पृथ्वी नीचे उतर रही है। वृक्षोंके स्कन्ध दिखाई पड़ने लगेनेसे अब वे पत्तोंके भीतर लीनसे नहीं जान पड़ते हैं। जो नदियाँ बहुत विच्छिन्न-दूर दूर जान पड़ती थीं, वे अब संयुक्त स्पष्ट दिखाई पड़ रही हैं। देखो, जैसे कोई संपूर्ण पृथ्वीको उछालकर मेरे पास लिये आ रहा है ।]

यह वर्णन बिल्कुल ठीक और उत्कृष्ट है। इसे पढ़कर जान पड़ता है कि उस प्राचीनकालमें व्योमयान भी थे और उन पर सवार होनेवाले अपनी इच्छाके अनुसार आकाशमें विचरण किया करते थे। अगर उस समय व्योमयान नहीं थे तो फिर कालिदासकी इस अद्भुत कल्पना शक्तिको धन्यवाद देना चाहिए ! रघुवंशमें एक जगह कालिदासने जो समुद्रका वर्णन किया है, उसे पढ़कर यही जान पड़ता है कि उन्होंने समुद्रकी सैर अवश्य की थी । किसी किसीका मत है कि कालिदासने कभी समुद्रको नहीं देखा । यह सब उनकी कल्पना है । अगर यही बात सच है तो धन्य हो उनकी अद्भुत कल्पनाशक्तिको !

भवभूतिका उत्तरचरित प्रकृतिवर्णनसे परिपूर्ण है । रामचंद्र दण्ड-कारण्यकी सैर करते हुए विचर रहे हैं ।—

**"स्निग्धश्यामाः क्वचिदपरतो भीषणाभोगरूक्षाः
स्थाने स्थाने मुखरककुभो झंकृतैर्निर्झराणाम् ।**

एते तीर्थाश्रमगिरिसरिद्गर्भकान्तारमिश्राः
सन्दृश्यन्ते परिचितभुवो दण्डकारण्यभागाः ॥"

[ये परिचित भूमिवाले दण्डकारण्यके हिस्से देख पड़ते हैं। कहीं हरी हरी घाससे स्निग्ध श्याम भूखण्ड हैं, और कहीं भयंकर रूखे दृश्य हैं। जगह जगह झरते हुए झरनोंकी झनकारसे दिशाएँ गूँज रही हैं। कहीं तीर्थ हैं, कहीं आश्रम हैं, कहीं पहाड़ हैं, कहीं नदियाँ हैं और बीच बीचमें जंगल हैं।]

यह एक सुंदर और श्रेष्ठ वर्णन है।

शम्बूक रामको दिखा रहा है—

"निष्कूजस्तिमिताः क्वचित्क्वचिदपि प्रोच्चण्डसत्त्वस्वनाः
स्वेच्छासुप्तगभीरघोषभुजगश्वासप्रदीप्ताग्नयः।
सीमानः प्रदरोदरेषु विलसत्स्वल्पांभसो यास्वयं
तृष्यद्भिः प्रतिसूर्यकैरजगरस्वेदद्रवः पीयते ॥"

[सीमान्त प्रदेशोंमें कहीं एकदम सन्नाटा छाया हुआ है, और कहीं कोई स्थान पशुओंके भयानक गर्जनसे परिपूर्ण हो रहा है। कहीं अपनी इच्छासे सुखपूर्वक सोये हुए गंभीर फूत्कार करनेवाले सर्पोंके निःश्वाससे प्रज्वलित होकर आग लग गई है, कहीं गढ़ोंमें थोड़ा थोड़ा पानी भरा हुआ है और कहींपर प्याससे विह्वल हुए कृकलास (गिरगिट) अजगरके शरीरका पसीना पी रहे हैं।]

"इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरवीरुत्-
प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति।
फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्ज-
स्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरिण्यः ॥"

[यहाँपर मदमत्त पक्षियोंके बैठनेसे बेतकी लताओंके पुष्प झड़ गये हैं। उनकी सुगन्धिसे युक्त ठंडे और स्वच्छ जलवाली, तथा फलोंके

बोझसे झुके हुए जामनोंके निकुंजमें उनके काले फलोंके गिरनेसे शब्दायमान, अनेक स्रोतोंवाली नदियाँ बह रही हैं।]

अपि च--

"दधति कुहरभाजामत्र भल्लूकयूना-
मनुरसितगुरूणि स्त्यानमम्बूकृतानि।
शिशिरकटुकषायः स्त्यायते शल्लकीना-
मभिदलितविकीर्णग्रन्थिनिष्यन्दगन्धः॥"

[यह स्थान गिरिकंदरानिवासी तरुण भालुओंके थूत्कार शब्दकी प्रतिध्वनिसे गंभीर हो रहा है और यहाँ हाथियोंके झुंडोंके द्वारा तोड़े गये शल्लकी वृक्षोंकी विक्षिप्त ग्रन्थियोंके रसमेंसे शीतल कटु-कषाय गन्ध फैल रही है।]

ऐसे गंभीर भीम वर्णन कालिदासकी रचनामें कहीं भी नहीं है। राम उसी पञ्चवटीके वनमें देखते हैं—

"पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरितां
विपर्यासं यातो घनविरलभावः क्षितिरुहाम्।
बहोर्दृष्टं कालादपरमिव मन्ये वनमिदं
निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धिं द्रढयति॥"

[पहले जहाँ नदियोंका धाराप्रवाह था, वहाँ अब कगारे निकल आये हैं। वृक्षसमूह भी कहीं विरलकी जगह घने हो गये हैं और कहीं घनेकी जगह विरल हो गये हैं। इसे बहुत दिनोंके बाद देखा है, इस कारण यह कोई और ही वन सा जान पड़ रहा है। केवल इन शैलमाला-ओंके संनिवेशसे ही मालूम पड़ रहा है कि यह वही वन है।]

बहुत बढ़िया वर्णन है!

उत्तरचरितमें और एक ऐसे विषयका वर्णन है, जिसे कालिदासने मानों जानबूझकर ही अपने नाटकमें नहीं रक्खा। वह है युद्धका वर्णन। एक ओर लवके चलाये जृंभकास्त्रको देखकर चन्द्रकेतु कहते हैं—

"व्यतिकर इव भीमस्तामसो वैद्युतश्च
प्रणिहितमपि चक्षुर्ग्रस्तमुक्तं हिनस्ति।
अथ लिखितमिवैतत्सैन्यमस्पंदमास्ते
नियतमजितवीर्यं जृंभते जृंभकास्त्रम्॥

आश्चर्यमाश्चर्यं—

पातालोदरकुञ्जपुञ्जिततमःश्यामैर्नभो जृंभकै-
रुत्तप्तस्फुरदारकूटकपिलज्योतिर्ज्वलद्दीप्तिभिः।
कल्पाक्षेपकठोरभैरवमरुद्व्यस्तैरवस्तीर्यते
मीलन्मेघतडित्कडारकुहरैर्विन्ध्याद्रिकूटैरिव॥"

[यह भयंकर अन्धकार और बिजलीका संयोग है। इसकी ओर दृष्टि लगानेसे आँखें चौंधिया जाती हैं। सारी सेना इसके प्रभावसे स्पन्दरहित चित्रलिखित सी खड़ी है। अवश्य ही यह अप्रतिहत प्रभाव जृंभकास्त्रका प्रादुर्भाव हो रहा है।]

[आश्चर्य है! आश्चर्य है! पातालके भीतरके कुंजमें पुंजीभूत अंधकारके समान कृष्णवर्ण, और उत्तप्त प्रदीप्त पीतलकी सी पिंगलवर्ण ज्योतिसे युक्त जाज्वल्यमान जृंभकास्त्रोंके द्वारा आकाशमण्डल आच्छादित हो रहा है। ऐसा जान पड़ता है कि ब्रह्माण्डके प्रलयकालके दुर्निवार भयानक वायुके द्वारा विक्षिप्त और मेघमिलित बिजलीसे पिंगलवर्ण गुहाओंवाले विन्ध्यपर्वतके शिखरोंसे व्याप्त हो रहा है।]

दूसरी ओर लव शत्रुपक्षकी सेनाका कोलाहल सुनकर आस्फालन-पूर्वक कह रहा है—

"अयं शैलाघातक्षुभितवड़वावक्त्रहुतभुक्
प्रचण्डक्रोधार्चिर्निचयकवलत्वं व्रजतु मे।
समन्तादुत्सर्पन् घनतुमुलसेनाकलकलः
पयोराशेरोघः प्रलयपवनास्फालित इव॥"

[प्रलयपवनसंचालित सागरजलप्रवाहके समान-चारों ओर फैलता हुआ सेनाका घन तुमुल कोलाहल, पर्वतके आघातसे क्षोभको प्राप्त वड़वानलके समान मेरी क्रोधाग्निराशिका कौर हो जायगा।]

एक तरफ चन्द्रकेतुका विस्मयके साथ देखना है, और एक तरफ बालक लवका दर्प है। जान पड़ता है, उत्तर चरितका पाँचवाँ अंक संस्कृत साहित्यमें अतुलनीय है।

इसके बाद युद्ध करते हुए वे दोनों बालक एक दूसरेको "**सस्नेहानुरागं निर्वर्ण्य**" (स्नेह और अनुरागके साथ देख करके) कहते हैं—

"यदृच्छासंवादः किमु किमु गुणानामतिशयः
पुराणो वा जन्मान्तरनिबिडबन्धः परिचयः।
निजो वा सम्बन्धः किमु विधिवशात्कोप्यविदितो
ममैतस्मिन् दृष्टे हृदयमवधानं रचयति॥"

(इसे देखकर मेरा हृदय इस तरह एकाग्रतायुक्त क्यों हो रहा है? यह दैवात् मिलन हो गया है अथवा गुणोंकी अधिकता देखकर ही यह प्रीतिका भाव उत्पन्न हुआ है? यह जन्मान्तरके दृढ़ स्नेह बन्धनमें बँधे हुए किसी आत्मीयका मिलन है अथवा इसके साथ कोई रक्तका सम्बन्ध है जो किसी दैवदुर्विपाकके कारण अविदित है?]

कविताकी दृष्टिसे इसमें बड़ा चमत्कार है। किन्तु नाटकमें एक साथ एक ही उक्ति दो पात्रोंके मुखसे कहलाना उचित और स्वाभाविक नहीं जान पड़ता।

उत्तरचरितके छठे अंकके विष्कंभकमें, विद्याधर-विद्याधरीकी बातचीतमें, हम इस युद्धका वृत्तान्त सुनते हैं। वह वर्णन भी सजीव है। असल बात यह है कि वीर रसके वर्णनमें भवभूति अद्वितीय हैं।

मगर कालिदासको शायद ये विषय अधिक रुचिकर नहीं थे। वे युद्धका वर्णन करना चाहते, तो अपने इस शकुन्तला-नाटकमें ही कर सकते थे। दैत्योंके साथ दुष्यन्तका युद्ध दिखाकर वे दुष्यन्तकी शूरताको व्यक्त कर सकते थे, मगर उन्होंने ऐसा नहीं किया। उन्होंने जब कहीं प्रकृतिका वर्णन किया है, तो उसके कोमल पहलूको ही लिया है। भवभूतिने निविड़ जनस्थानका अपूर्व वर्णन किया है। क्या शकुन्तलामें ऐसे वर्णनके लिए स्थान नहीं था ? दूसरे अंकमें या छठे अंकमें, विचित्रताके हिसाबसे वे इस तरहका वर्णन कर सकते थे; किन्तु उन्होंने नहीं किया। जान पड़ता है, वे जानते थे कि उसमें उन्हें सफलता नहीं प्राप्त होगी। इसीसे जिधर उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति थी, उसी ओर उन्होंने अपनी कलम चलाई है। उन्होंने प्रकृतिके कोमल अंशको ही चुना है, और उसीके वर्णनमें कमाल कर दिया है।

पहले अंकमें ही उन्होंने जो आश्रमके बागका चित्र अंकित किया है, उसे ध्यान दे कर देखिए। देखिए, आप एक अपूर्व चित्र देख पाते हैं कि नहीं। निर्जन आश्रम है, आसपास चारों ओर वृक्ष हैं, सामने बाग है। उस बागमें तरह तरहके रंगीन फूल खिले हुए हैं। भ्रमर

आ आकर उन फूलोंपर बैठते हैं और फिर उड़ जाते हैं। वृक्षोंपर पक्षी बोल रहे हैं। उस घनी छायासे शोभित, सुगन्धपूर्ण, निस्तब्ध आश्रममें—उन फूलोंके बीच—सबसे उत्तम फूल, तीन युवती तापसी कलश लिये वृक्षोंमें पानी डाल रही हैं, साथ ही हँसी-दिल्लगी करती जाती हैं। उनकी तरुण देहलतापर सूर्यकी किरणें आकर पड़ रही हैं। उनके तरुण कपोलोंपर विशुद्ध आनन्द, स्फूर्ति और पुण्यकी ज्योति है। उनकी दृष्टिमें मानों न अतीत है न भविष्य है—केवल वर्त्तमान मात्र है। मानों उन्होंने जन्म नहीं लिया, और मरेंगी भी वे नहीं। उनके न शैशव था, और न कभी बुढ़ापा भी आवेगा—वे आप ही अपनेमें मग्न हैं। जैसे सुवर्णके धागेमें पिरोये हुए तीन उज्ज्वल मोती हैं, कभी न सूँघे गये तीन फूल हैं, आनन्द और यौवनकी तीन मूर्तियाँ हैं।—कैसा सुन्दर मनोहर चित्र है!

फिर सातवें अंकमें और एक चित्र देखिए। कश्यपके आश्रममें थोड़ी दूर पर, एक बालक सिंहके बच्चेसे खेल रहा है। दो तापसियाँ उसे धमका रही हैं, मना कर रही हैं, लेकिन बालक सुनता ही नहीं। निकट ही दुष्यन्त खड़े हुए अवाक् होकर तमाशा देख रहे हैं। इसके बाद वहाँ विरहिणी, दुर्बल, मलिनवेष और एक वेणी धारण किये हुए शकुन्तला धीरे धीरे प्रवेश करती है। बहुत दिनोंके बाद उस शान्त निस्तब्ध हेमकूट पर्वतके प्रान्त भागमें दोनों प्रेमियोंके पुनर्मिलनका दृश्य—मानों शान्ति और निष्पाप आनन्दका नन्दन-कानन है।—कैसा सुन्दर दृश्य है!

इससे बढ़कर शान्तिरसका चित्र इस जगत्में और कौन खींच सका है! शेक्सपियर (Shakespeare) ने एकबार चाँदनीमें प्रेमिक युगलका वर्णन किया है। Jessica कहती है—How sweet

the moonlight sleeps upon the bank. * किन्तु रमणीयतामें यह चित्र क्या कालिदासकृत चित्रके आगे ठहर सकता है?

चौथे अंकमें और एक दृश्य देखिए। शकुन्तला अपने पतिके घर जा रही है। कण्व मुनि उसे बिदा कर रहे हैं—

"यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
अन्तर्बाष्पभरोपरोधि गदितं चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमपि स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः॥"

[आज शकुन्तला पतिके घर जायगी, इससे मेरा हृदय उत्कण्ठित हो रहा है। अन्तर्गत आँसुओंके मारे मुँहसे बात नहीं निकलती। दोनों नेत्र चिन्तासे जड़ीभूत हो रहे हैं। मैं वनवासी तापस होकर भी जब स्नेहवश इस तरह विकल विह्वल हो रहा हूँ तब गृहस्थ लोग कन्यावियोगके नये दुःखसे क्यों न अत्यन्त व्यथित होते होंगे!]

कण्वमुनि शकुन्तलाको आशीर्वाद देते हैं—

"ययातेरिव शर्मिष्ठा भर्त्तुर्बहुमता भव।
पुत्रं त्वमपि सम्राजं सेव पूरुमवाप्नुहि॥"

[जिस तरह शर्मिष्ठा ययातिके आदरकी पात्री बनी थी, उसी तरह तुम भी अपने पतिकी आदरपात्री बनो। और उसके जैसे सम्राट् पुत्र पुरु हुआ था, वैसे ही तुम भी प्रतापी पुत्र पाओ।]

शकुन्तलाने कण्वकी आज्ञासे अग्निकी प्रदक्षिणा की। कण्वने अपने शिष्य शार्ङ्गरव और शारद्वतसे कहा—

"वत्सौ भगिन्याः पन्थानमादेशयताम्।"

---

* नदीके किनारे चाँदनी कैसी मधुरतासे शयन कर रही है।

[पुत्रो, तुम बहनको मार्ग दिखलाओ ।]

जब वे उस आज्ञाका पालन करनेको उद्यत हुए, तब कण्वने वृक्षों-की ओर देखकर कहा—

"भो भोः सन्निहितवनदेवतास्तपोवनतरवः—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनाऽपि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रवृत्तिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥"

[हे वनदेवताओंके निवासस्थान तपोवनके वृक्षो ! तुमको पानी दिये बिना जो स्वयं जलग्रहण नहीं करती थी, पल्लव-भूषण प्यारे होने पर भी जो स्नेहके मारे तुम्हारे नव-पल्लव नहीं तोड़ती थी, तुम्हारे पहले पहल फूलनेके समय जिसे अपार आनन्द होता था, वह शकु-न्तला आज अपने पतिके घर जा रही है, तुम सब उसे आज्ञा दो।]

इसके बाद शकुन्तला अपनी दोनों सखियोंसे बिदा होती है। उस समय शकुन्तलाका मन व्याकुल है। पतिके घर जानेको भी उसके पैर नहीं उठते। प्रियंवदाने शकुन्तलाको दिखलाया कि तुम्हारे निकट-वर्ती विरहदुःखसे संपूर्ण तपोवन मुरझाया हुआ है। शकुन्तला लता-भगिनी माधवीके गले लग कर उससे बिदा हुई, और उसकी देखरेख रखनेके लिए उसने कण्वसे अनुरोध किया। कण्वने थोड़ासा मौखिक कौतुक करके मानसिक उद्वेगको दबानेकी चेष्टा की। शकुन्तलाने आम्रवृक्ष और माधवीलताको दोनों सखियोंके हाथमें सौंपा। उस समय दोनों सखियाँ "हमें किसे सौंपे जाती हो !" कहकर रोने लगीं। कण्वने उन्हें समझा बुझाकर शान्त किया। शकुन्तलाने कण्वसे अनु-रोध किया कि गर्भिणी मृगीके जब बच्चे पैदा हों, तो उसकी खबर

मेरे पास अवश्य भेज दीजिए। शकुन्तला जब जाने लगी, तब एक मृगशावकने आकर उसकी राह रोक ली। इससे शकुन्तला रो पड़ी। कण्वमुनिने उसको समझा कर अन्तको यह उपदेश दिया कि—

"शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्त्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मास्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भोगेष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥"

[तुम गुरुजनों अर्थात् बड़ेबूढ़ोंकी सेवा करना, सौतोंके साथ प्रिय सखियोंके सदृश व्यवहार करना, स्वामी अगर तिरस्कार भी करे तो क्रोधके कारण उसके विरुद्ध आचरण न करना, परिवार-परिजनोंके साथ बहुत कुछ अनुकूल भाव रखना और भोगोंमें आसक्त न होना। युवतियाँ ऐसे आचरणसे ही 'गृहिणी' पदको पाती हैं। इसके विरुद्ध आचरण करनेवाली स्त्रियाँ कुलको रोगकी तरह कष्ट पहुँचानेवाली होती हैं।]

शकुन्तलाने कण्वकी गोदमें सिर रखकर कहा—"मैं इस समय पिताकी गोदसे बिछुड़कर, मलयपर्वत परसे उखाड़ी गई चन्दनलताकी तरह, कैसे जीवन-धारण करूँगी!" इसके बाद कण्वके पैरोंपर गिरकर कहा—"पिताजी, मैं प्रणाम करती हूँ।" आखिर कण्वसे शोकका वेग न रोका गया। उन्होंने कहा—

"वत्से मामेवं जडीकरोषि—
अपपास्यति मे शोकं कथं नु वत्से त्वया रचितपूर्वम्।
उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयतः॥"

[बेटी, तू मुझे ऐसा जड़ीभूत बना रही है! पर्णशालाके द्वारपर तुमने जो नीवार-बलि प्रदान की थी, उसके निकले हुए अंकुरोंको जब मैं देखा करूँगा तब मेरा यह शोक किस तरह दूर हो सकेगा?]

इस जगत्में ऐसा कोमल स्नेहकरुण चित्र और कौन कवि अंकित कर सका है !—कन्याको पहलेपहल सुसराल भेजते समय पिता-माता आदिके हृदयमें जो कारुण्यका भाव लहराने लगता है, वह भाव इस अंकमें मानों उमड़ा आ रहा है, स्थानकी कमीसे उछला पड़ता है, उसके लिए यथेष्ट स्थान नहीं है।

मैं पहले परिच्छेदमें बतला चुका हूँ कि उत्तररामचरितमें करुण रसका ही प्रादुर्भाव अधिक है।—किन्तु वह कारुण्य प्रायः विलापसे ही परिपूर्ण है। ऐसा कारुण्य बहुत सस्ता और सुलभ होता है। "अरे बापरे मैयारे !" "तुम कहाँ गई !" इस तरह चीत्कार करके रुलानेकी शक्ति किसी ऊँचे दर्जेके कवित्वका परिचय नहीं देती। यह तो प्रायः सभी कर सकते हैं। कर्तव्य और स्नेह, शोक और धैर्य, आनन्द और वेदना, इन मिश्र प्रवृत्तियोंके संघर्षणसे जो कषाय अ-मृत उत्पन्न होता है, उसको जो तैयार कर सकता है, जो मिश्र प्रवृत्तिके सामञ्जस्यकी रक्षा करके मनुष्य-हृदयमें निहित कारु-ण्यका द्वार खोल देता है, जो विभिन्न श्रेणीके सौन्दर्यको एक जगह एकट्ठा करके दिखाकर आँखोंसे अश्रुधारा बहा दे सकता है, वही महा कवि है, और वही मनुष्य-हृदयके गूढ़ मर्मको समझा है। कालिदासका करुणरस इसी श्रेणीका है। भवभूतिकृत रामविलाप उसकी अपेक्षा निम्न श्रेणीका है। वह केवल चीत्कार है, केवल उलाहना है।

इसके सिवाय भवभूतिने अपने उत्तररामचरितमें एक प्रधान रसकी अवतारणा नहीं की। वह है हास्यरस। किन्तु कालिदासने अभिज्ञान शाकुन्तलमें अन्य रसोंके साथ हास्यरसका भी मधुर संमिश्रण कर दिया है। संपूर्ण संस्कृत-साहित्यमें कालिदास हास्यरसके लिखनेमें अद्वितीय हैं। दुष्यन्तके वयस्य विदूषकके परिहास-वचन दो-एक बार

नव वसन्तकी हवाके समान दुष्यन्तकी प्रणय-नदीके प्रबल प्रवाहके ऊपर हलके हिलोरे उठा कर चले गये हैं। राजा शिकारके लिए आ-कर एक तापसीके प्रेममें मुग्ध हो गये और राजधानीको लौटकर जानेका नाम तक नहीं लेते। उनका वयस्य इस मामलेमें बड़े भारी कौतुकका अनुभव करता है। उसकी दृष्टिमें प्रेमकी अपेक्षा मिष्टान्न या अच्छा आहार अधिक प्रिय वस्तु है। यह सोच कर उसे असीम विस्मय हो रहा है कि लोग ऐसे रसनातृप्तिकर पदार्थको छोड़ कर क्यों प्रेमके फेरमें पड़ कर चक्कर खाते हैं, जिससे भूख मन्द हो जाती है, निद्रा भाग जाती है, काम करनेमें जी नहीं लगता और मनमें अशान्ति पैदा हो जाती है।

माधव्यकी दिल्लगीके भीतर कुछ निगूढ़ अर्थ भी है। वह इस गुप्त प्रेमका पक्षपाती नहीं था, और उसे आशंका थी कि इसका परिणाम अशुभ होगा। इसीसे वह राजाको उस कार्यसे निवृत्त करनेकी चेष्टा कर रहा है। बादको राजाने जब उसे उलाहना दिया कि तुमने मुझे शकुन्तलाका वृत्तान्त क्यों नहीं स्मरण करा दिया, तब माधव्यने कहा—"आपने तो उस समय इस बातको झूठमूठकी दिल्लगी कहकर उड़ा दिया था!" माधव्यके इस उत्तरमें खासा गूढ़ उपदेश है। इसका भावार्थ शायद यही है कि जैसा काम किया वैसा फल पाया!

भवभूतिने उत्तर-रामचरितमें हास्यरस बिल्कुल ही नहीं रक्खा। केवल एक बार सीताने चित्रलिखित उर्मिलाकी ओर उँगली उठाकर हँसकर पूछा है कि "वत्स! यह कौन है?" किन्तु इसको वास्तविक दिल्लगी नहीं कह सकते। यह मृदु स-स्नेह परिहास है। जान पड़ता है, भवभूति या तो दिल्लगीबाज नहीं थे, या वे हास्यरसको पसंद ही नहीं करते थे।

जगत्के प्रायः किसी भी महाकाव्य रचनेवालेने अपने महाकाव्यमें हास्यरसकी अवतारणा नहीं की। यूरोपमें एरिस्टोफेनिसने और एशियामें कालिदासने ही शायद पहलेपहल अपने महा नाटकोंमें हास्यरसको स्थान दिया है। बादको शेक्सपियरने इस बारेमें इतना अधिक कृतित्व दिखाया कि उनके प्रायः प्रत्येक महानाटकमें हँसी-दिल्लगीकी पराकाष्ठा देख पड़ती है। उनके हेनरी पंचम (Henry V) नाटकका नाम अगर फाल्स्टाफ (Falstaff) रक्खा जाता तो शायद ठीक होता। उनके बाद मोलियर (Molieres) विशुद्ध हास्यरसके लेखक हुए। हास्यरसप्रधान नाट्य-जगत्में इन्हें महारथीकी पदवी दी जाती है। फिर सर्वान्टेस् (Cervantes) ऐसे लेखक हुए कि वे Don Quixote नामका केवल एक ही हास्यरसप्रधान उपन्यास लिखकर शेक्सपियर आदि महाकवियोंकी पंक्तिमें बैठनेका स्थान पागये। सबके अन्तमें डिकेन्सने (Dickens) अपने उपन्यासोंमें, खासकर पिकविक पेपर्स (Pickwick Papers)उपन्यासमें, हास्यरसकी मर्यादा बढ़ा दी। और अब तो हास्यरसकी अवहेलना कीही नहीं जा सकती। इस समय अन्य रसोंके साथ हास्यरस भी सिर ऊँचा करके बैठ सकता है।

प्रश्न हो सकता है कि हास्यरस अगर इतना श्रद्धेय है, तो फिर महाकाव्य रचनेवालोंने इसके प्रति कार्यतः अनादरका भाव क्यों दिखलाया है?

इसका कारण यही जान पड़ता है कि महाकाव्यका विषय अत्यन्त गंभीर हुआ करता है। देव-देवी या किसी देवोपम वीरका चरित्र लेकर ही महाकाव्यकी रचना की जाती है। इतने गंभीर विषयके साथ हँसी दिल्लगीका संमिश्रण उतनी खूबीके साथ हरएक लेखक नहीं कर सकता। एरिस्टोफेनिसने लिखा है तो खालिस हास्यरस ही लिखा है। होमरने

लिखा है तो खाली वीर रस ही लिखा है। गेटेने गंभीर नाटक ही लिखनेका अवकाश पाया था। जर्मन जाति स्वभावसे ही गंभीर-प्रकृति होती है। इसीसे हास्यरसमें कोई भी जर्मन लेखक विशेष कृतित्व नहीं दिखा सका। मिश्र हास्य और गंभीर रसको समभावसे और एकत्र लिखनेका साहस पहले पहल शेक्सपियरने ही किया था। उसके बाद डिकेन्स, थैकरे, जार्ज इलियट इत्यादि लेखकोंने उनके पदांकका अनुसरण किया। इस समय तो हरएक देशमें, सभ्यता फैलनेके साथ ही, हास्यरस भी क्रमशः प्रतिष्ठा प्राप्त कर रहा है।

मगर हास्यरस भी एक तरहका नहीं होता। यों तो गुदगुदा कर भी हँसाया जा सकता है। उससे हँसी आसकती है, लेकिन वह 'रस' नहीं है। मतवालेकी अर्थहीन असंलग्न उक्तियोंसे हँसाना अत्यन्त निम्न श्रेणीका हास्यरस है। यथार्थ हास्यरस वह है, जिसकी स्थिति मनुष्यकी मानसिक दुर्बलताके ऊपर हो। अर्ध-बधिर व्यक्ति अगर प्रश्नको अच्छी तरह न सुन पानेके कारण बार बार 'ऐं—ऐं' करे, तो वह उस बहरेकी शारीरिक विकलता मात्र है। उससे अगर किसीको हँसी आजावे, तो वह हास्य कोई रस नहीं है। वह हास्य, और किसी आदमीको पैर फिसल जानेके कारण गिर पड़ते देखकर हँसना, एक ही बात है। किन्तु वह बहरा आदमी अगर असली प्रश्नको न सुन कर और ही किसी काल्पनिक प्रश्नका उत्तर दे, तो उससे जो हँसी आती है वह एक रस है। क्योंकि उसके मूलमें बहरेकी मानसिक दुर्बलता—अर्थात् अपनेको बहरा स्वीकार करनेकी अनिच्छा—मौजूद है।

मनुष्यके हृदयमें जो कमजोरियाँ हैं, उनकी असंगति दिखाकर हास्यका उद्रेक करनेसे, उस कमजोरीके ऊपर जो आक्रोश होता है

उससे व्यंगकी होती और उसके प्रति सहानुभूतिसे मृदु परिहासकी सृष्टि होती है।

शेक्सपियर दूसरी श्रेणीके और सर्वाण्टेस् (Cervantes) पहली श्रेणीके हास्यरसमें जगत्में अद्वितीय हैं। सेरिडन प्रथमोक्त श्रेणीके और मोलियर दूसरी श्रेणीके हास्यलेखक हैं। कवियोंमें इंगोल्ड्सबाई (Ingoldsby) प्रथमोक्त श्रेणीके और हुड (Hood) दूसरी श्रेणीके हैं। कालिदास दूसरी श्रेणीके, अर्थात् मृदु परिहास लिखनेवाले महाकवि हैं। माधव्यकी दिल्लगी कोमल या हलकी है। उसमें तीव्र डंक नहीं है।

इनके सिवाय और भी एक तरहकी दिल्लगी है, जो कि बहुत ही ऊँचे दर्जेकी है। उसे मिश्र दिल्लगी कहना चाहिए। हास्यरसके साथ करुण, शान्त, रौद्र आदि रसोंको मिलाकर जिस दिल्लगीकी सृष्टि होती है, उसीको मैं मिश्र दिल्लगी कहता हूँ। जो दिल्लगी मुँहमें हँसीकी रेखा उत्पन्न करती है और साथ ही आँखोंसे आँसू बहा देती है, या जिसे पढ़ते-पढ़ते एकसाथ हृदयमें आनन्द और वेदनाका अनुभव होता है, वह दिल्लगी जगत्के साहित्यमें अति विरल है। किसी किसी समालोचककी रायमें फाल्स्टाफ (Falstaff) के चरित्रचित्रणमें शेक्सपियरकी रसिकता इसी श्रेणीकी है। (बंकिमचंद्र चटर्जीने भी कमलाकान्तेर दफ्तरमें, जिसका हिन्दी अनुवाद 'चौबेका चिट्ठा' नामसे प्रकाशित हो चुका है, इसी श्रेणीकी मिश्र रसिकतासे काम लिया है)। कालिदास इस तरहकी हँसी दिल्लगीके सम्बन्धमें सौभाग्यशाली नहीं थे। इस विषयमें शेक्सपियर इतने ऊँचे हैं कि उनके साथ कालिदासकी तुलना ही नहीं हो सकती।

चरित्रचित्रणमें इन दोनों महाकवियोंने मनुष्यचरित्रका कोमल पहलू ही लिया है। भवभूतिने पाँचवें अंकमें, लवके चरित्रमें जो वीरभाव

व्यक्त किया है, उसे देखकर जान पड़ता है कि इस विषयमें वे सारे संस्कृत-साहित्यमें कवि-गुरु कहलाने योग्य हैं।

असलमें विराट् गंभीर भैरव भावोंके चित्रणमें भवभूति कालिदाससे बहुत ऊँचे हैं। शृंगाररसमें कालिदास अद्वितीय हैं। कालिदास जैसे रमणीय करुण चित्रके चित्रणमें सिद्धहस्त हैं, वैसे ही भवभूति गंभीर करुण चित्र खींचनेमें अद्वितीय हैं। कालिदासके नाटककी अगर नदीके कलरवसे तुलना की जाय, तो भवभूतिके इस नाटककी तुलना समुद्र-गर्जनके साथ की जानी चाहिए। किन्तु चरित्रचित्रणमें, बाहरी भंगिमा (अंग-संचालन) या कार्यसे मनका भाव प्रकट करनेमें, भवभूति कालिदासके चरणोंकी रज भी मस्तकमें धारण करनेके उपयुक्त नहीं हैं। मैं पहलेके किसी परिच्छेदमें दिखा चुका हूँ कि भवभूतिने अपने नाटकके नायक और नायिकाका जो चरित्र अंकित किया है, वह अच्छी तरह स्पष्ट नहीं हुआ। वह सुंदर है, किन्तु अस्पष्ट रह गया है। नायक या नायिका किसीने भी कार्यके द्वारा अपना प्रेम नहीं दिखाया। केवल विलाप और स्वगत उक्तियोंकी ही भरमार है। "प्राणनाथ, मैं तुम्हारी ही हूँ" केवल यही कहला देनेसे साध्वी सतीकी पतिप्राणता पूर्ण रूपसे नहीं दिखाई जा सकती। पतिप्राणताका काम कराकर दिखलाना चाहिए, तभी नाटकीय चरित्र स्पष्ट होता है। रामने अगर कुछ काम किया है तो बस यही कि विलाप करते-करते सीताको वन भेज दिया है, और शूद्रकको मार डाला है। और सीता वह सब चुपचाप सहती रही हैं—इसके सिवा वे और कर ही क्या सकती थीं?—वह सहन करना भी अच्छी तरह स्पष्ट नहीं हुआ। भवभूतिकी सीता एक सरला, विह्वला, पवित्रा, पतिप्राणा, निरभिमानिनी पत्नीका अस्पृष्ट चित्र मात्र है। भवभूति अगर कार्यके

द्वारा इस चित्रको अच्छी तरह स्पष्ट कर सकते, या यों कहो कि सजीवभावसे अंकित कर सकते, तो यह चित्र अतुलनीय होता।)

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि भवभूतिने चरम विषय चुना था। राम देवता और सीता देवी हैं। अगर किसीको देव-देवी कहनेमें आपत्ति हो तो देवोपम कहनेमें तो किसीको भी आपत्ति नहीं होगी। कालिदासके दुष्यन्त और शकुन्तला उनकी तुलनामें कामुक-कामुकी हैं। किन्तु दुष्यन्त और शकुन्तलाका चरित्र चाहे जैसा हो, वह सजीव है। भवभूतिके राम और सीता निर्जीव हैं। कालिदासका महत्त्व चित्रके अंकित करनेमें और भवभूतिका महत्त्व कल्पनामें है।

पाँचवाँ परिच्छेद ।

भाषा और छन्द ।

किसी एक ग्रंथकी समालोचना करते समय उसके अन्यान्य गुणों और दोषोंके साथ उसकी भाषाके सम्बन्धमें भी विचार करनेकी आवश्यकता है। विचार या भावसम्पत्ति कविता अथवा नाटककी जान है, और भाषा उसका शरीर है। यह बात नहीं है कि भाषा केवल भावको प्रकट करनेका उपाय मात्र है। भाषा उस भावको मूर्तिमान् करती है। भाषा और भावका ऐसा नित्य-सम्बन्ध है कि भाषातत्त्वज्ञ लोग सन्देह करते हैं कि कोई भाव भाषाहीन रह सकता है या नहीं। जैसे किसीने कहीं कभी देहहीन प्राण नहीं देखा, वैसे ही भाषाहीन भाव भी मनुष्यके अगोचर है।

इस विषयकी मीमांसा न करके भी यह कहा जा सकता है कि जैसे प्राण और शरीर, शक्ति और पदार्थ, पुरुष और प्रकृति हैं, वैसे ही भाव और भाषा दोनों अविच्छेद्य हैं। जो सजीव कविता है उसमें भाषा भावका अनुगमन करती है। अर्थात् भाव अपने योग्य भाषा आप चुन लेते हैं। भाव चपल होनेपर भाषा भी चपल होगी और भावके गंभीर होनेपर भाषा भी गंभीर होगी। ऐसा हुए बिना वह कविता अति उत्तम नहीं होती।

कवि पोप (pope) ने अपने Essay on Criticism (समालोचनाविषयक निबन्ध)में लिखा है—

" It is not enough no harshness gives offence.
The sound must seem an echo to the sense " *

कविताकी भाषाके सम्बन्धमें इससे बढ़कर सुंदर समालोचना हो ही नहीं सकती। जहाँपर एक क्षुद्र नदीका वर्णन करना है, वहाँ मृदु-ध्वनि शब्दोंका प्रयोग करना चाहिए। किन्तु जहाँ समुद्रका वर्णन करना है, वहाँ भाषामें भी मेघगर्जन चाहिए। वंगसाहित्यमें भारतेचंद्रकी भाषा सर्वत्र भावकी अनुगामिनी है। उन्होंने जहाँ क्रुद्ध शिवकी युद्धसज्जाका वर्णन किया है, वहाँ उनकी भाषा भी वैसी ही गंभीर हो गई है, और जहाँ विद्याने मालिनीको झिड़का है, वहाँ वह उससे विपरीत हो गई है।

माइकेल मधुसूदनदत्त भी इस विषयमें सिद्धहस्त हैं। वे जब शिवके क्रोधका वर्णन करते हैं, तब उनकी व्यवहृत भाषासे ही मानों उसका आधा वर्णन हो जाता है। और जब सीता सरमाके आगे अपनी पूर्वकथाका वर्णन करती हैं, तब उनके शब्द मृदु सहज सरल और यथासंभव संयुक्त अक्षरोंसे रहित होते हैं।

पाश्चात्य कवियोंमें ब्राउनिंग (Browning) की भाषा और भावमें परस्पर ऐसा मेल नहीं है। ब्राउनिंगने भाषाकी ओर उतना ध्यान नहीं दिया। उसकी भाषा जगह जगह कठोर और कृत्रिम सी हो गई है; किन्तु कहीं कहीं भावकी अनुगामिनी भी है। टेनीसन (Tennyson) की भाषा अतुलनीय है। प्राचीन अँगरेजीके कवियोंने, अर्थात् बायरन (Byron), शेली (Shelley),

* यही पर्याप्त नहीं है कि शब्दोंमें कर्णकटुता न रहे। शब्द ऐसे हों कि उनके उच्चारण मात्रसे अर्थ ध्वनित हो जाय।

वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) और कीट्स (Keats) ने भाषा और भावका अद्भुत सामञ्जस्य कर दिखाया है। वर्ड्सवर्थकी भाषा स्वाभाविक है। किसी किसी समालोचकका कहना है कि वर्ड्सवर्थकी पद्यकी भाषा गद्यके समान है। होने दीजिए, अगर गद्य पद्यकी अपेक्षा सुंदरतर रूपसे भावको प्रकट करता है, तो हमको पद्य नहीं चाहिए, गद्य ही अच्छा है। कार्लाइल (Carlyle) ने गद्यमें बहुत ही अच्छी कविता लिखी है। शेक्सपियरने तो मानों भाषा और भावको एकत्र गला कर अपनी कविता ढाली है। मतलब यह कि जिस कविकी भाषा भावसे मेल नहीं खाती, उसके विरुद्ध जाती है, वह कवि महाकवि नहीं है। वह महाकवि हो भी नहीं सकता।

इसके बाद छंदको लीजिए। छंद जितना ही भावके अनुरूप होगा उतना ही अच्छा होगा। किन्तु छंदके चुनावपर काव्यसौन्दर्य उतना निर्भर नहीं है। शेक्सपियरने एक अमित्राक्षर छंदमें ही अपनी सारी भावसम्पत्ति प्रकट की है। टेनीसन (Tennyson) और स्विन्बर्न (Swinburne) के सिवा अन्य किसी अँगरेजीके कविकी कवितामें छन्दोंकी विशेष विचित्रता नहीं है। यद्यपि नृत्यका भाव प्रकट करनेके लिए नाचते हुए छन्दको सबसे अधिक उपयोगी मान सकते हैं, किन्तु उसकी एकान्त आवश्यकता नहीं है। उसके न होनेसे भी काम चल सकता है। मगर भावके अनुरूप भाषाके बिना काम नहीं चल सकता।

कालिदास और भवभूति, इन दोनों कवियोंमें भाषाके सम्बन्धमें किसकी शक्ति अधिक है, इसका निर्णय करना कठिन है। दोनोंका ही सुन्दर भाषापर अधिकार है। तथापि भाषाकी सरलता और स्वाभाविकतामें कालिदास श्रेष्ठ हैं। वे ऐसे शब्दोंका प्रयोग करते हैं, जिनसे केवल भाव हृदयंगम ही नहीं होते, वे हृदयमें जाकर अंकित

हो जाते हैं। उनका "**शान्तमिदमाश्रमपदम्**" यह वाक्य सुनते-सुनते ही हम मानों उस शान्त आश्रमको अपनी आँखोंके आगे देखने लगते हैं और साथ ही उस शान्तिके आनन्दका उपभोग करने लगते हैं। दुष्यन्त जब कहते हैं कि "**वसने परिधूसरे वसाना,**" तब हम तपस्विनी शकुन्तलाको प्रत्यक्षसी देखते हैं।

भवभूतिका उत्तरचरित भाषाकी दृष्टिसे अभिज्ञान-शाकुन्तल नाटककी अपेक्षा हीन श्रेणीका नहीं है। जहाँ जैसा भाव है वहाँ वैसी ही भाषाका प्रयोग दोनों कवियोंने किया है। किन्तु कोषकथित अर्थ और ध्वनिके अतिरिक्त व्यवहृत शब्दोंका और भी एक गुण होता है।

प्रत्येक शब्दका कोषकथित अर्थके सिवाय और भी एक अर्थ होता है। उसके प्रचलित व्यवहारमें, उस शब्दके साथ कितने ही आनुषंगिक भाव विजड़ित रहते हैं। इसे अँगरेजीमें शब्दका कॉनोटेशन् (Connotation) कहते हैं। साधारणतः, शब्द जितना सरल सहज और प्रचलित होता है, उतना ही वह जोरदार होता है। कालिदासकी भाषा इसी तरहकी है। कालिदासकी भाषामें प्रायः प्रचलित सामान्य सरल शब्दोंका ही सुन्दर समावेश है। ऊपर उद्धृत उनके "**शातमिदमाश्रमपदम्**" अथवा "**वसने परिधूसरे वसाना**" की संस्कृत अत्यन्त सहज है। फिर भी शब्दोंकी सार्थकता कितनी है! भवभूति इस गुणके सम्बन्धमें कालिदाससे बहुत नीचे हैं। उनकी भाषा बहुत अधिक पाण्डित्यव्यञ्जक है। वे प्रचलित शब्दोंका अधिक प्रयोग नहीं करते—प्रचलित सरल भाषाके अधिक पक्षपाती नहीं। वे दुरूह भाषाका प्रयोग बहुत पसंद करते हैं।

इसके बाद अनुप्रासको लीजिए। काव्यमें निश्चय ही अनुप्रासकी

एक सार्थकता है । Rhyme † का जो उद्देश्य है, अनुप्रासका भी वही उद्देश्य है। एक ध्वनिकी वारम्वार आवृत्तिमें एक संगीत रहता है। Rhyme में हर लाइनके शेष अक्षरमें वह ध्वनि घूमकर आजाती है, उसमें एक प्रकारका श्रुतिमाधुर्य होता है । अमित्राक्षर छंदमें वह माधुर्य नहीं होता; अनुप्रास ही उस अभावकी पूर्ति करता है । किन्तु जिस ध्वनिकी पुनरावृत्ति करनी हो, वह मधुर होनी चाहिए । जो विकट ध्वनि है, उसके बारंवार आघातसे वाक्यविन्यास श्रुतिमधुर होनेकी जगह कर्णकटु ही हो जाता है । वैसे शब्दोंका प्रयोग अगर अपरिहार्य हो, तो एक लाइनमें एक बार ही उसका प्रयोग करना यथेष्ट है । वीणाके तारमें बारबार झनकार देनेसे वह सुंदर लगता है, लेकिन ढेंकीका ढकढक अच्छा नहीं लगता।

भवभूतिके अनुप्रासमें वीणाकी ध्वनिकी अपेक्षा ढेंकीका ढक-ढक ही अधिक है । उनको अनुप्रास लानेमें कुछ अधिक प्रयास भी करना पड़ा है। उनके "**गद्गदनदद्गोदावरीवारयः**", या "**नीरन्ध्रनीलनिचुलानि**", अथवा "**स्नेहाद्‌नरालनालनालिनी**" ऐसे अनुप्रासोंको हम बुरा नहीं समझते। क्योंकि इनके साथ एक सुस्वर है। किन्तु "**कूजत्कान्तकपोतकुक्कुटकुलाः कूले कुलायद्रुमाः**" बिल्कुल ही असह्य है।

यद्यपि भाषाकी सरलता और लालित्यमें भवभूतिकी भाषा कालि-दासकी भाषासे निकृष्ट है, किन्तु प्रसारके सम्बन्धमें वह कालिदासकी भाषासे श्रेष्ठ है। अपनी रचनामें वे ललित कोमल-कान्त-पदावली भी सुना सकते हैं और गंभीर जलद-नाद भी सुना सकते हैं । सं-

† तुक या काफिया।

स्कृत भाषा कितनी गाढ़ी और गंभीर हो सकती है इसका चरम निदर्शन भवभूतिके उत्तरचरितकी भाषा है।

भावको गहरा, साथ ही सहज ही बोधगम्य करानेकी शक्ति महाकविका और एक लक्षण है। कोई कोई बड़े कवि भी कभी कभी भावको इतना गाढ़ा और जटिल कर डालते हैं कि समझनेके लिए उसकी टीकाका प्रयोजन होता है। अनेक अनुकूल पक्षके समालोचक कविके इस महान् दोषको 'आध्यात्मिक' नाम देकर उड़ा देना चाहते हैं। संस्कृतके कवियोंमें भट्टिकाव्यप्रणेताकी और माघ कविकी कृतियोंमें यह दोष पूर्ण मात्रामें मौजूद है। (नैषधचरित भी इसी दोषसे दूषित है।) इस विषयमें कालिदास सबके आदर्श हैं। भवभूति भी इस विषयमें विशेष रूपसे दोषी हैं। उन्होंने भावको थोड़े शब्दोंमें प्रकट करनेके लिए बहुत लंबे लंबे समासोंका व्यवहार किया है। वास्तवमें उनके हाथमें पड़कर 'समास' ऐसा सुंदर नियम भी पाठकोंके लिए भयका कारण हो उठा है। अनेक स्थलोंमें उनके व्यवहृत समास कविताकामिनीके कोमल अंगके भूषण न बनकर भारस्वरूप हो उठे हैं।

इसके बाद उपमाका नंबर है। उपमा अवश्य ही भाषा अथवा छन्दका अंग नहीं है। वह एक 'अलंकार' है। वह लिखनेका एक ढंग है, जिसे अँगरेजीमें स्टाइल (Style) कहते हैं। बहुत लोग उपमा न देकर ही वक्तव्य विषय समझाते हैं। ऐसा ढंग सरल और अलंकारहीन होता है। अनेक लोग बहुतसी उपमायें देकर वक्तव्य विषयको समझाते हैं। उनका ढंग कुछ टेढ़ा और अलंकारयुक्त होता है। उपमा अगर सुंदर हो, और उसका व्यवहार उचित स्थानपर किया जाय, तो उससे काव्यका सौन्दर्य बढ़ता है। उपमाका प्रयोग रचनाका एक

खास ढंग है। इस कारण यहाँ कालिदास और भवभूतिके उपमाप्रयोगके बारेमें, कुछ आलोचना करना अनुचित न होगा।

उपमा उत्तम वर्णनका एक अंग है। उपमा विषयको अलंकृत करती है, वर्णनको उज्ज्वल बनाती है, सौन्दर्यको एक जगह जमा करती है, मनोराज्य और बहिर्जगत्का सामञ्जस्य दिखाकर पाठकको विस्मित करती है, और वक्तव्यको खूब स्पष्ट रूपसे व्यक्त करती है। हम रोजके बोलचालमें भी इतनी अधिक मात्रामें उपमाओंका व्यवहार करते हैं कि उसपर ध्यान देकर देखनेसे वास्तवमें आश्चर्य होता है। 'घोड़ेकी तरह दौड़ना,' 'हाथीके समान मोटा,' 'ताड़सा लंबा,' 'देखनेमें जैसे कोई राजपुत्र है,' 'साँड़की तरह डकरता है,' 'आमकी फाँकसी आँखें,' 'चाँदसा मुखड़ा,' इत्यादि प्रकारकी अनेक उपमाओंका हम नित्य व्यवहार करते हैं।

उपमाके प्रयोगके सम्बन्धमें संस्कृतके अलंकार-शास्त्रियोंने कुछ बँधे हुए नियम बना दिये हैं। जैसे यश या हास्यकी तुलना किसी श्वेतवर्ण वस्तुहीके साथ करनी चाहिए। एक किम्वदन्ती है कि महाराजा विक्रमादित्यके सभापण्डितोंने राजाके यशका वर्णन '**दधिवत्**' कहकर किया था; बादको कालिदासने आकर कहा—"**राजंस्तव यशो भाति शरच्चन्द्रमरीचिवत्**" (राजन्, तुम्हारा यश शरद ऋतुके चंद्रमाकी किरणोंके समान शुभ्र है)। इस तरह अलंकारशास्त्रके एक नियमकी रक्षा करके भी कालिदासने उक्त सुंदर उपमाका प्रयोग किया। ऐसे बँधे हुए नियमोंके रहनेपर भी कालिदासने अपने नाटकों और काव्योंमें बहुतसी नई उपमाएँ दी हैं। जो निम्नतम श्रेणीके कवि हैं, वे नई उपमाएँ खोज निकालनेमें अक्षम होनेके कारण पुरानी जूठी उपमाओंका प्रयोग करके ही सन्तोष कर लिया करते हैं। पद्ममुखी, मृगाक्षी, गजेन्द्रगामिनी

वगैरह मांधाताके समयकी पुरानी उपमाएँ एक संप्रदाय-विशेषको ही प्रिय हैं। किन्तु जो श्रेष्ठ और प्रधान कवि हैं, वे उन गली-सड़ी पुरानी उपमाओंका प्रयोग करनेमें अपनी अप्रतिष्ठा समझते हैं। वे अपनी प्रतिभा और कल्पनाके द्वारा नई नई उपमाओंकी सृष्टि किया करते हैं।

संस्कृत-साहित्यमें, उपमा-प्रयोगके सम्बन्धमें, कालिदासकी विशेष प्रसिद्धि है। कहा जाता है कि "**उपमा कालिदासस्य**"। कालिदास निश्चय ही उपमाके प्रयोगमें सिद्धहस्त हैं। मगर वे जगह जगह उपमाकी मात्रा उचितसे अधिक बढ़ा देते हैं। रघुवंश महाकाव्यके पहले सर्गमें उन्होंने प्रायः प्रतिश्लोकमें उपमाका प्रयोग किया है। उसका फल यह हुआ है कि अनेक स्थानोंमें उपमा ठीक नहीं बैठी। जैसे—

> **"मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।**
> **प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्वाहुरिव वामनः॥"**

[मैं मंद होकर भी कवियोंके यशका इच्छुक वैसे ही उपहासका पात्र बनूँगा, जैसे कोई बौना आदमी लोभके कारण उस फलको तोड़नेके लिए हाथ ऊपर उठाकर उचक रहा हो, जिसे कोई लंबा आदमी पा सकता है।]

इस उपमाकी अपेक्षा हिन्दीमें प्रचलित "बौनेके हाथ चाँद" अधिक जोरदार है। कालिदासने इसके पहले ही श्लोकमें अच्छी चमत्कारपूर्ण उपमा दी है। यथा—

> **"क सूर्यप्रभवो वंशः क चाल्पविषया मतिः।**
> **तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥"**

[कहाँ तो सूर्यसे उत्पन्न राजवंश और कहाँ मेरी अल्पविषयगामिनी साधारण बुद्धि! मैं मोहवश डोंगीके सहारे सागरके पार जाना चाहता हूँ जो उस रघुवंशका वर्णन करने बैठा हूँ।]

इसके पास ही कष्टकल्पित वामनकी उपमा कितनी दुर्बल है ! जान पड़ता है, वह उपमा इस खयालसे दी गई है कि एक न एक उपमा अवश्य ही देनी चाहिए। अँगरेजीमें ड्राइडन (Dryden) ने कविताकी एक खास श्रेणीको व्यंग करके लिखा है—

"One (verse) for sense and one for rhyme
Is quite sufficient at a time"*

तदनुसार ही कालिदासका उक्त उपमाप्रयोग हो गया है— one for sense and one for Simile. (एक भावके लिए और दूसरा अलंकारके लिए।)

लेकिन कालिदासकी 'शकुन्तला' इस दोषसे दूषित नहीं है। उसमें उन्होंने जहाँ जिस उपमाका व्यवहार किया है, वहाँ वह बिलकुल ठीक बैठ गई है। उनकी '**सरसिजमनुविद्धं शैवलेन**' उपमा अतुल है, '**किसलयमिव पांडुपत्रेषु**' सुन्दर है और '**अनाघ्रातं पुष्पं**' अद्भुत है।

कालिदास और भवभूतिकी उपमा-प्रयोग-विधि एक हिसाबसे जुदी जुदी श्रेणीकी है। उपमा देनेकी प्रथा तीन तरहकी है। (१) वस्तुके साथ वस्तुकी उपमा और गुणके साथ गुणकी उपमा, जैसे चन्द्रमा सा मुख या मातृस्नेहकी तरह पवित्र। (२) गुणके साथ वस्तुकी उपमा, जैसे स्नेह शिशिरके समान (पवित्र), सरोवरके समान स्वच्छ या चन्द्रमाकी तरह शान्त है—इत्यादि। (३) वस्तुके साथ गुणकी उपमा, जैसे मनकी सी (द्रुत) गति, या सुखके समान (स्वच्छ शान्त) झरना, अथवा हिंसाके समान (वक्र) रेखा— इत्यादि।

* एक चरण तो अपना अभिप्राय प्रकट करनेके लिए और दूसरा तुक मिलानेके लिए। बस। एक समयके लिए इतना काफी है।

कालिदास और भवभूतिके नाटकोंमें ये तीनों प्रकारकी उपमाएँ हैं। किन्तु कालिदासकी उपमाकी एक विशेषता प्रथम और द्वितीय प्रकारकी उपमाके व्यवहारमें है, और भवभूतिकी उपमाकी विशेषता तीसरे प्रकारकी उपमाके व्यवहारमें है। कालिदास वल्कलधारिणी शकुन्तलाकी तुलना शैवालवेष्टित पद्मके साथ करते हैं और भवभूति सीताकी तुलना (मूर्तिमान्) कारुण्य और शरीरधारिणी विरहव्यथाके साथ करते हैं। कालिदास कहते हैं—

" गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्थितं चेतः।
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य ॥ "

[जैसे प्रतिकूल वायुमें ध्वजाको लेकर चलनेसे उसका वस्त्र पीछेकी ओर जाता है, वैसे ही मेरा शरीर तो आगेकी ओर जा रहा है, और चंचल चित्त पीछेकी ओर उड़ा जा रहा है।]

भवभूति कहते हैं—

" त्रातुं लोकानिव परिणतः कायवानस्त्रवेदः
क्षात्रो धर्मः श्रित इव तनुं ब्रह्मकोषस्य गुप्त्यै।
सामर्थ्यानामिव समुदयः सञ्चयो वा गुणाना-
माविर्भूय स्थित इव जगत्पुण्यनिर्माणराशिः ॥ "

[इसका अर्थ पृष्ठ १४६ में लिखा जा चुका है।]

दोनों नाटकोंसे इस तरहके अनेकानेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

वास्तवमें जैसे कालिदासकी शकुन्तलाकी धारण आधिभौतिक है, और भवभूतिकी सीताकी धारणा आध्यात्मिक है, वैसे ही उपमाएँ भी कालिदासकी वास्तविक विषय लेकर और भवभूतिकी मानसिक गुण

और अवस्थाओंको लेकर रचित हैं। उपमाओंके सम्बन्धमें भी कालिदास मानों मर्त्यलोकमें विहार करते हैं, और भवभूति आकाशमें विचरते हैं।

उपमाओंका और भी एक तरहका श्रेणीविभाग किया जा सकता है। जैसे सरल और मिश्र। सरल उपमाएँ वे हैं, जिनमें केवल एक ही उपमा रहती है और मिश्र उपमाएँ वे हैं, जिनमें एकसे अधिक उपमाएँ निहित रहती हैं। 'पर्वतकी तरह स्थिर' यह लालसाकी एक सरल उपमा है; किन्तु 'विषाक्त आलिंगन' यह मिश्र उपमा है। पहले लालसाकी अवस्थाके साथ आलिंगनकी तुलना है, और उसके बाद आलिंगनके फलके साथ विषकी तुलना है।

यूरोपीय उपमा-प्रयोग-प्रणालीके इतिहासकी अच्छी तरह आलोचना करके देखनेसे पता लगता है कि वहाँ सरल उपमाने ही क्रमशः मिश्र उपमाका आकार धारण किया है। होमर (Homer) की उपमाएँ वैचित्र्य, प्राचुर्य, सौन्दर्य और गांभीर्यसे परिपूर्ण हैं। अनेक स्थलों पर जब वे उपमा देने बैठते हैं, तब उपमानको छोड़ कर उपमेयको इस तरह सजाने लगते हैं, उसके सम्बन्धमें इतनी विस्तृत वर्णना करते हैं कि वह उपमेय स्वयं एक सौन्दर्यका नन्दनकानन बन जाता है और उस समय पाठक उपमानको भूल जाकर उपमेयकी ओर विस्मित मुग्ध दृष्टिसे ताकने लगता है। पोप कहते हैं—

> He makes no scruple, to play with the circumstances.*

एक उदाहरण देता हूँ—

" As from an island city seen afar, the smoke goes up to heaven when foes besiege;

* स्थितिका स्वेच्छानुरूप उपयोग करनेमें वह संकोच नहीं करता।

And all day long in grievous battle strive;
The leaguered townsmen from their city wall;
But soon, at set of sun, blaze after blaze
Flame forth the beacon fires, and high the glare
Shoots up, for all that dwell around to be
That they may come with ships to aid their stress
Such light blazed heavenward from Achilles' head."†

इस जगह पर "At set of sun, blaze after blaze flame forth the beacon fires, and high the glare shoots up" केवल इतनी ही उपमा है। बाकी सब अवान्तर बातें हैं। किन्तु कविने इस चित्रको इतना यत्न करके, संपूर्ण करके, विशेष करके, अंकित किया है कि वही एक संपूर्ण चित्र बन गया है। किसी अँगरेज समालोचकने कहा है—

"Homeric simile is not a mere ornament. It serves to introduce something which Homer desires to render exceptionally impressive * * They indicate a spontaneous glow of poetical energy; and consequently their occurrence seems as natural as their effect is powerful."*

---

† दूरसे लक्षित होनेवाले किसी द्वीपमें स्थित नगरसे—जब वह शत्रुओंसे घिर जाता—धुआँ आकाशकी ओर ऊपर उड़ता है। नगर निवासी समस्त दिन घोर युद्धमें निरत रहते हैं; परन्तु सूर्यास्त होते ही विपत्तिसूचक अग्नियाँ एक एक कर प्रज्वलित की जाती हैं और उनकी दीप्त शिखाएँ ऊपर उठती हैं जिससे उन्हें देख कर समीपस्थ मित्रदल जहाज लेकर उस द्वीपकी रक्षाके लिए आ जायँ। ऐसा ही प्रकाश एकिलेसके मस्तकसे निकल कर आकाशकी ओर उठा।

* होमरने सिर्फ भाषाकी सौन्दर्यवृद्धिके लिए उपमाका प्रयोग नहीं किया है। वह उपमाओंके द्वारा उस बातका उल्लेख कर देता था जिससे वह अपने

वर्जिल, डांटे और मिल्टनने इस विषयमें होमरके ही पदाङ्कोंका अनुसरण किया है। तथापि जान पड़ता है, उनका उपमा-प्रयोग क्रम क्रमसे जटिल होता गया है। मिल्टनने उपमाओंमें अपना भारी पाण्डित्य दिखानेकी चेष्टा की है। पुराण, इतिहास, भूगोल इत्यादिको मथकर उन्होंने अपनी ढेरकी ढेर उपमाओंका संग्रह किया है। उदाहरणके तौर पर यहाँ उनकी एक उपमा नीचे उद्धृत की जाती है—

"For never since created Man
Met such embodied force, as named with these
Could merit more than that small infantry.
Warred on by cranes—though all the giant brood
Of phlegra with the heroic race were joined
That fought at Thebes and Ilium, on each side
Mixed with auxiliar gods; and what resounds
In fable or romance of uther's son
Begirt with British or Armoric knights;
And all who since, baptised or infidel,
Jousted in Aspramout or Montalban
Damasco or Morocco or Trebesond
Or whom Beserta sent from Afric shore
When Charleman with all his peerage fell
By Fontaorabia"*

विषयको विशेष प्रभावोत्पादक बनाना चाहता था। उपमाओंसे कवित्वशक्तिका उच्छ्वास प्रकट होता है। इस लिए उनका प्रयोग उतना ही स्वाभाविक होता है जितना कि उनका प्रभाव।

* जबसे मनुष्योंकी सृष्टि हुई तबसे कभी ऐसी सेना एकत्र नहीं हुई थी। थेबस और इलियसके समराङ्गणमें देवताओंके साथ जो वीरसेना उतरी थी यदि उसके साथ फलेग्राका समस्त राक्षसकुल मिल जाय तो भी वह इस सेनाके

यह कोरा पाण्डित्य है। इतनी अधिक उपमाओंके रहने पर भी उपमानके समझनेमें कुछ सहायता नहीं मिल सकी । उनकी " As thick as leaves in Vallambrosa " (वल्लाम्ब्रोसा नामक वृक्षकी पत्तियोंके समान सघन) उपमा प्रायः हास्यकर है। उन्होंने केवल अपनी विद्या काममें लाने और एक गाल फुलानेवाले बड़े शब्दका व्यवहार करनेके उद्देश्यसे ही Vallambrosa शब्दका प्रयोग किया है। किन्तु होमरने अपनी उपमाओंका चुनाव 'प्रकृति' मेंसे किया है। इसी कारण वे सहज, सरल, सुन्दर, बोधगम्य और महामूल्य हैं। होमरने सौन्दर्यके ऊपर सौन्दर्यका ढेर लगा दिया है, और मिल्टनने केवल अपनी विद्या दिखलाई है।

तथापि ऊपर उद्धृत दोनों दृष्टान्तोंसे ही मालूम हो जायगा कि इन दोनों महाकवियोंका उपमा देनेका ढंग एक ही प्रकारका है। बंगलाके महाकवि माइकेल मधुसूदन दत्तने अपने उपमा-प्रयोगमें कुछ कुछ इन्हीं दोनोंके पदांकका अनुसरण किया है। उनका—
" **यथा यबे घोरबने निषाद बिंधिले मृगेन्द्रे नश्वर शरे, गर्जि भीमरवे भूमितले पड़े हरि—पड़िला भूपति** "* इन्हींका दुर्बल अनुकरण है।

सामने उतना ही अगण्य है जितना कि सारसोंसे विरुद्ध युद्धके लिए प्रस्तुत पदाति सेना। यही हाल गाथाओंमें प्रख्यात यूथरके पुत्रका है जो सदा शूर वीरोंके अनुगत रहता था। यही बात उन सब देशी-विदेशी वीरोंके विषयमें कही जा सकती है जो अस्प्रामाउट, माण्टेलबन, डिमास्को, मोरक्को, ट्रेबेसाण्डमें उपस्थित हुए थे। यही उस सेनाके लिए भी उपयुक्त है जिसे वेस्टोने आफ्रिकासे भेजी थी जब चार्लेमन अपने सब वीरोंके साथ फाण्टेओरेबियाकी युद्धभूमिमें निहत हुआ था।

* अर्थात्—" जैसे घोर वनमें निषादने किसी मृगेन्द्र (सिंह) को नश्वर शरसे विद्ध किया हो और वह घोर नाद करके भूमितल पर गिर पड़ा हो, वैसे ही राजा गिर पड़े।"

महाकवि शेक्सपियरने अपने जगत्प्रसिद्ध नाटकोंमें बिल्कुल ही और ढंग अख्तियार किया है। वे उपमामें इतनी बारीकीके साथ नहीं घुसते। वे सिर्फ इशारा करके चले जाते हैं। वे बहुत कहेंगे तो "When we have shuffled off this mortal coil "† कहेंगे। मिल्टन होते तो वे इस तरह नहीं कहते। मिल्टन पहले खाँस कर गला साफ कर लेते, उसके बाद मानों एकबार अपने चारों ओर नजर डाल लेते, तब कहीं गंभीरस्वरमें शुरू करते—

As when in Summer इत्यादि।

शेक्सपियरकी भाषा ही उपमाकी भाषा है। उसमें उपमान और उपमेय एक साथ मिल गये हैं और वह मिलन इतना घनिष्ठ है, इतना गूढ़ है कि उन्हें अलग करना असंभव है। शेक्सपियर-ग्रंथावली उठाकर जहाँ पर खोलिए वहीं यह प्रणाली देख पाइएगा। जैसे—

" Wearing honesty " " Smooth every passion " "bring oil to fire snow to their colder moods" "Turn their halcyon beaks with every gale and vary of their masters " " Heavy headed revel " " Toxed of other nations " " pith and marrow of our attribute " " fieryfooted steeds " इत्यादि।*

शेक्सपियर शायद ही उपमान और उपमेयको जुदा करते हैं। यथा —" Such smiling rouges as these, like rats bite the holy cords atwain" "come evil might thou sober suited matron, all in black" इत्यादि।*

† जब कि हम इस नश्वर शरीरको त्यागें।

शेक्सपियरका अभ्यास जितना बढ़ता गया है उनकी उक्तियोंमें उपमाएँ भी उतनी ही घनी होती गई हैं। यहाँ तक कि उन्होंने एक ही वाक्यमें दो या उससे भी अधिक उपमाओंका बोझ लाद दिया है। उदाहरणके तौर पर इसी वाक्यको ले लीजिए—"To take arms against a sea of troubles." (एक आपत्ति-सागरके विरुद्ध शस्त्रधारण)। इसमें आपत्तिके साथ समुद्रकी तुलना की गई और तत्काल ही समुद्रके साथ सैन्यकी तुलना की गई, फिर उसी सेनाके विरुद्ध शस्त्रधारण—इतना अर्थ इतनीसी उक्तिके भीतर निहित है।

यद्यपि कालिदास और भवभूतिकी ठीक ऐसी ही प्रथा नहीं है, किन्तु वह इसीके आसपास अवश्य है। पूर्वोक्त श्लोकोंको यहाँ फिरसे उद्धृत करनेका प्रयोजन नहीं है। पाठकगण उन श्लोकों पर ध्यान देकर देख सकते हैं। कालिदासके "**विभ्रमलसत्प्रोद्भिन्नकान्तिद्रवम्**" और भवभूतिके "**अमृतवर्तिर्नयनयाः**" या "**शैलाघातक्षुभितवडवावक्त्रहुतभुक्**" इन दो उदाहरणोंसे ही पाठक मेरे वक्तव्यको समझ लेंगे।

इस तरहकी मिश्र उपमाओंका व्यवहार करना बहुत बड़ी क्षमताका और गुणका परिचायक है। इन कवियोंको उपमाएँ खोज कर और सोच कर नहीं निकालनी पड़तीं, उपमाएँ आप ही उनके आगे आकर उपस्थित हो जाती हैं। उपमाएँ उनकी भाषा और भावनाका अंगसा हो जाती हैं। कवि मानों उन उपमाओंके हाथसे छुटकारा ही नहीं पाता। ऐसी उपमाओंका प्रयोग भी महाकविका एक खास लक्षण है।

उपमा जितना ही सरलसे मिश्र होती जाती है उतना ही उपमाकी भाषा भी मिश्र और गहरी होती जाती है। संस्कृत भाषामें समास जो है वह उपमाको गहरी बनानेमें सहायता करता है।

वास्तवमें उपमा देनेकी प्रकृष्ट प्रथा उपमान और उपमेयके प्रत्येक अंगको मिलाना नहीं है। प्रकृष्ट प्रथा उपमानका इशारा करके चला जाना ही है। बाकी अंशकी कल्पना पाठक खुद कर लेते हैं। यह पाठकोंकी शिक्षा और कल्पनाके ऊपर ही बहुत कुछ निर्भर रहता है। जिनको उस तरहकी शिक्षा नहीं मिली, या जिनमें वैसी कल्पना शक्ति नहीं है, महाकवियोंके काव्य उनके लिए नहीं हैं।

छंदके चुनावमें प्रायः दोनों ही कवि समान हैं। संस्कृत नाटकोंमें बराबर एक ही छंदका प्रयोग नहीं होता। भिन्न भिन्न भावोंके अनुसार कवि अपनी इच्छाके माफिक भिन्न भिन्न छन्दोंका प्रयोग करते हैं। कालिदास और भवभूति दोनोंने ही अपने नाटकोंमें प्रायः प्रचलित छन्दोंका ही प्रयोग किया है, और वे छंद प्रायः सर्वत्र ही वर्णित विषयके उपयोगी हैं। विषय लघु होनेपर हरिणी, इंद्रवज्रा इत्यादि छंदोंका, और विषय गुरु होनेपर मन्दाक्रान्ता, स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित, शिखरिणी इत्यादि छंदोंका प्रयोग किया गया है। अन्यान्य छंदोंमें, जान पड़ता है, कालिदास आर्या छंदके, और भवभूति अनुष्टुप् छंदके विशेष पक्षपाती हैं। भवभूतिने शार्दूलविक्रीडित छंदका प्रयोग कालिदासकी अपेक्षा अधिक किया है। इसका कारण यही है कि उनके उत्तरचरित नाटकमें गुरु विषयोंकी ही विशेष अवतारणा हुई है।

छठा परिच्छेद ।

विविध ।

महाकाव्योंमें अतिमानुषिक अर्थात् अलौकिक बातोंके वर्णन करनेकी प्रथा सभी देशोंमें, बहुत समयसे, प्रचलित है। महाकाव्योंमें देव-देवीगण विना किसी संकोचके मनुष्योंके साथ मिले हैं, और लड़े हैं। उन्होंने मर्त्यलोकमें अवतीर्ण होकर मनुष्यहीकी तरह हँसा है—रोया है, प्यार किया है और सहन किया है। बड़े बड़ेसे देवता भी साधारणतः भक्तके रक्षक देख पड़ते हैं। होमररचित इलियड महाकाव्यमें वर्णित युद्धोंको अगर देवदेवियोंका युद्ध कहें तो भी कुछ अत्युक्ति नहीं होगी। माईकेल मधुसूदन दत्तने 'मेघनादवध' में होमरके ही पदाङ्कोंका अनुसरण किया है।

ग्रीक नाटकलेखकोंने नाटकोंमें अद्भुत अलौकिक बातोंका बहुत अधिक आयोजन नहीं किया। शेक्सपियरने इस तरहकी घटनाओंकी अवतारणा कदाचित् ही की है। जर्मन और फ्रेंच नाटककारोंने भी इस प्रथाका सहारा नहीं लिया। और 'फाउस्ट' तो असलमें नाटक नहीं, काव्य है। हाँ, 'इबसन' ने इस प्रथाको त्याग दिया है।

किन्तु अभिज्ञान-शकुन्तल और उत्तररामचरित नाटकोंमें इस तरहकी घटनायें काफी हैं।

अभिज्ञान-शकुन्तलमें दुर्वासाके शापसे दुष्यन्तका स्मृतिभ्रम, त्यागी हुई शकुन्तलाका अन्तर्द्धान होना, दुष्यन्तका आकाशमार्गसे स्वर्गारोहण और फिर मनुष्यलोकमें उतरना, इसी तरहकी बातें हैं।

उत्तररामचरितमें परित्यक्त सीता और लव-कुशका भागीरथीके द्वारा उद्धार, छायारूपिणी सीताका पञ्चवटीप्रवेश, दो नदियों (तमसा और मुरला) की परस्पर बातचीत, सिर कटने पर शंबूकको दिव्य शरीर प्राप्त होना, इत्यादि इसी तरहकी बातें हैं।

नाटकके हिसाबसे उत्तररामचरितकी समालोचना की जाय, तो उसका नाटकत्व किसी तरह भी नहीं टिक सकता—यह बात मैं पहले ही कह चुका हूँ। इन अतिमानुषिक बातोंकी अधिकता पर गौर करके देखनेसे इसमें बिल्कुल ही संदेह नहीं रहता कि भवभूतिने उत्तरचरित नाटकको नाटककी दृष्टिसे नहीं लिखा; उन्होंने यह नाटकके आकारमें काव्य लिखा है। यद्यपि उन्होंने उत्तररामचरितमें सात अंक रखकर उसे महानाटककी आख्या दी है, और अलंकारशास्त्रके नियमकी रक्षाके लिए ही अन्तके दृश्यमें राम और सीताको मिला दिया है, यह निश्चित है, तथापि वे निश्चय ही समझ गये थे कि अलंकारशास्त्रके नियमोंकी संपूर्ण रूपसे रक्षा करके भी मैं इसे यथार्थ नाटक नहीं बना सका हूँ। इसीसे शायद उन्होंने इस ग्रंथमें अपनी कल्पनाकी रास या लगाम बिल्कुल छोड़ दी है।

किन्तु कालिदासने अभिज्ञान-शकुन्तलकी रचना नाटकत्वके हिसाबसे ही की है। तो फिर उन्होंने उसमें इतनी अधिक मात्रामें अप्राकृत बातोंकी अवतारणा क्यों की ?

पहले तो दुर्वासाके दिये शापहीको लीजिए। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि मूल शकुन्तलोपाख्यानमें इस शापका जिक्र तक नहीं है। कालिदासने दुष्यन्तको दोषसे वचानेके लिए ही इस अभिशापकी कल्पना की है। अगर वे ऐसा नहीं करते तो दुष्यन्त अपनी धर्मप-

स्त्रीका त्याग करनेवाले साधारण लम्पट बन जाते । किन्तु मेरी समझमें कालिदासका यह कल्पना-कौशल सुन्दर नहीं हुआ ।

क्योंकि एक तो अभिशापसे स्मृतिभ्रम हो जाना एक अघटनीय बात है । जो बात अस्वाभाविक है, उसके लिए नाटकमें जगह नहीं । इसके उत्तरमें कहा जायगा कि इस समयकी विचार-तुलामें प्राचीन साहित्य नहीं तौला जा सकता । जैसे शेक्सपियरके समयमें भूत और प्रेतिनियोंके अस्तित्वपर जनसाधारणकी आस्था थी, वैसे ही कालिदासके समयमें ऋषियोंके अभिशापकी सफलतापर भी लोगोंको विश्वास था । और फिर उक्त कविगण कोई वैज्ञानिक तत्त्व लिखने नहीं बैठे थे; क्या सत्य है और क्या असत्य, इसका सूक्ष्म विचार करने नहीं बैठे थे ।

ऐतिहासिक या वैज्ञानिक तथ्यका सूक्ष्म विचार करके कोई नाटक या काव्य लिखने नहीं बैठता । उसके लिए प्रचलित विश्वास ही यथेष्ट होते हैं । उसपर अगर स्वयं कविका ही वैसा विश्वास हो (वह चाहे उचित हो, चाहे भ्रान्त), तब तो कुछ कहना ही नहीं है । समालोचक जो है वह कविकी ऐतिहासिक या वैज्ञानिक अज्ञताको दोष दे सकता है, किन्तु केवल इसी कारण वह कविके नाटकत्व या कवित्वको दोष नहीं दे सकता । समालोचक अगर नाटकीय चरित्रमें कुछ असंगति अथवा सौन्दर्यका अभाव दिखा देवे, तो उसकी प्रतिकूल समालोचनाका कुछ मूल्य है, नहीं तो नहीं ।

किन्तु यह कह कर कोई कवि प्रचलित विश्वास या अपने विश्वासको लेकर यथेच्छाचार नहीं कर सकता। उसके भीतर अगर असंगति रहे, तो वह नाटकका दोप है ।

उदाहरणके तौर पर हेम्लेट नाटकको ही ले लीजिए । ‘ हैम्लेट ’ नाटकके पहले अंकमें हैम्लेट अपने मृत पिताका भूत देख रहा है ।

उस प्रेतमूर्तिको हैम्लेटका मित्र होरेशियो और अन्यान्य व्यक्ति भी देख रहे हैं। तब हमें यह जान पड़ता है कि प्रेत कोई ऐसा पदार्थ है, जिसे सभी देख सकते हैं। प्रेत केवल दर्शककी कल्पना नहीं है, एक यथार्थ चीज है—उसका एक स्वाधीन अस्तित्व है। किन्तु हैम्लेट जब अपनी माताके सामने वही मूर्ति देखता है, तब उसकी माता उस प्रेतमूर्तिको नहीं देख सकती। यहाँ पर इसका संगत समाधान करनेके लिए क्या व्याख्या हो सकती है? इसकी व्याख्या क्या यही है कि पहली बार यथार्थ ही हैम्लेटको भूत देख पड़ता है, लेकिन दूसरी बार मस्तिष्कमें उत्तेजना होनेसे वह उसकी कल्पना करता है? परन्तु इस तरहकी व्याख्या शेक्सपियरकी वकालत है, समालोचककी समालोचना नहीं। बल्कि हैम्लेटको ऐसी मानसिक भ्रान्ति होना उसकी माताके प्रकाशपूर्ण कमरेमें असंगत और अंधकारमयी रातके समय निर्जन स्थानमें सर्वथा संगत है। हैम्लेटकी माताके साथ ऐसी क्या बातचीत हुई थी, जिसके बाद ही वह अपने पिताकी प्रेतमूर्तिकी कल्पना करने बैठ गया?

किन्तु कालिदासकल्पित दुर्वासादत्त शाप इस भौतिक (भूत-प्रेत-सम्बन्धी) कौशलसे भी अधिक अधम जान पड़ता है।

पहले तो, दुर्वासाने आकर जो शकुन्तलासे अतिथिसत्कारका दावा किया, उसका कोई भी कारण इस नाटकमें नहीं पाया जाता। कथाभागके साथ इसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। यदि उपाख्यान-भागके किसी भी अंशके साथ कुछ भी संबंध रख कर दुर्वासाके आगमनकी कल्पना होती, तो उससे नाटककारकी निपुणता प्रकट होती। दुर्वासाका आना उपाख्यान-भागके बिल्कुल बाहरकी बात है। इसीसे यह घटना उपाख्यान-भागके साथ वैसा मेल नहीं खाती।

यह बात नहीं है कि संसारमें ऐसी घटना होती ही न हो। बिल्कुल बाहरकी भी घटना आकर कभी कभी मानवजीवनकी गतिको रोक लेती है, या उसकी गतिको दूसरी ओर फेर देती है। किन्तु पृथ्वी पर ऐसी घटनाएँ हुआ करती हैं, इसी कारण ऐसी कल्पना करना किसी ऊँचे दर्जेके कविके लिए प्रशंसाकी बात नहीं है। गलेमें मछलीका काँटा अटक जानेसे भी लोगोंकी मृत्यु हो जाया करती है। किन्तु उच्च श्रेणीके किसी नाटकमें ऐसी आकस्मिक घटनाके लिए स्थान नहीं है। किसी भी नाटकीय पात्रकी मृत्युके लिए, उपाख्यान भागके साथ पहलेहीसे सम्बन्ध रखकर, किसी भी पूर्ववर्ती घटनाके फल-स्वरूप उसकी मृत्यु करा सकनेमें ही कविका विशेष कृतित्व प्रकट होता है।

इसके ऊपर अगर दुर्वासा शकुन्तलाकी मानसिक अवस्थाको जानते, तो शकुन्तलाको शापके बदले आशीर्वाद देकर चले जाना ही उनका कर्तव्य था। शकुन्तला अपने पतिके ध्यानमें मग्न थी। पति ही ज्ञान, पति ही ध्यान और पति ही सर्वस्व, यही क्या आदर्श सती पतिव्रताका लक्षण नहीं है? जो कि परम सतीधर्म माना गया है उसीका पालन करनेके कारण ऐसा कठोर शाप! यह बात नहीं है कि दुर्वासा इस बातको न जानते हों कि शकुन्तला अपने पति दुष्यन्त राजाके ध्यानमें मग्न हो रही है। वे शाप देते हैं कि "जिसकी चिन्तामें मग्न होकर तूने मेरी अवहेला की है, वह तुझे भूल जायगा।" अतएव दुर्वासाका यह जानना निश्चित है कि शकुन्तला किसी मनुष्यका ध्यान कर रही थी। और वे यह भी जानते थे कि वह मनुष्य शकुन्तलाको बहुत ही प्यारा है। नहीं तो यह बात दण्डके तौरपर नहीं कही जा सकती थी कि "वह तुझे भूल जायगा"। इससे सिद्ध हुआ कि दुर्वासा यह जानते थे कि युवती शकुन्तला किसीके प्रेमपाशमें पड़ गई है। उन्होंने जब

यहाँ तक जान लिया, तब यह सिद्धान्त कर लेना ठीक नहीं जँचता कि केवल दुष्यन्त और शकुन्तलाके विवाह-वृत्तान्तको ही वे नहीं जान सके। (कमसे कम इतना तो वे अनुमानसे भी जान सकते थे कि तपोवनवासिनी शुद्धशीला शकुन्तला विवाहित पतिका ही ध्यान कर सकती है।) पत्नी अगर पतिका ध्यान करती है, तो इसमें पत्नीका अपराध क्या है ? यह तो उचित कार्य है, यह तो धर्म है ! इसका पुरस्कार क्या अभिशाप ही है ?

प्रश्न हो सकता है कि दुर्वासाने कैसे जाना कि शकुन्तला किसी अपने प्रियजनका ही ध्यान कर रही है ? युवती तापसीके लिए क्या ऐसी कोई चिन्ता नहीं है, जिसमें वह तन्मय हो जाय ? मैंने मान लिया कि दुर्वासा तपोबलके प्रभावसे औरके मनकी बात जान सकते हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि उन्होंने शाप किस अपराधके लिए दिया ?

एक विज्ञ समालोचकने कहा है कि शकुन्तलाने वासनाके अधीन होकर अतिथि-सत्कार धर्मकी अवहेलना की थी; इसी अपराधके कारण दुर्वासाने उसको शाप दिया। किन्तु यह बात यथाथ नहीं है। शकुन्तलाने आतिथ्य-धर्मकी अवहेलना नहीं की। अवहेलना तब होती, जब वह दुर्वासाका आगमन जानकर भी उन्हें योंही विमुख लौटा देती। वह अपने आपेमें ही नहीं थी। उसे उस समय बाह्यज्ञान ही नहीं था। वह जाग्रत अवस्थामें निद्रित सी थी। एक कठोर स्वप्नके आवेशमें अभिभूत हो रही थी। समालोचक महाशय क्या यह कहना चाहते हैं कि पतिके ऊपर भार्याका इतना अधिक अनुराग उचित नहीं है, जिससे वह घड़ी भरके लिए भी तन्मय हो जाय ! और मजा यह कि जरूरत पड़नेपर ये ही समालोचक-पुंगव कहने लगते हैं कि " सती स्त्रीका एक मात्र धर्म, एक मात्र गति, पति ही है ! "

शकुन्तला कुछ आठोंपहर दुष्यन्तके ध्यानमें नहीं डूबी रहती थी। वह खाती-पीती थी, बातचीत करती थी, उठती-बैठती और घूमती-फिरती थी। हो सकता है कि एक दिन सन्नाटेमें, सवेरेके सुहावने समयमें, निर्जन स्थानमें, शान्त तपोवनके बीच, कुटीर-प्रांगणमें बैठकर, शून्य दृष्टिसे दूर आकाश या स्तब्ध प्रकृतिको देखती हुई नवोढ़ा विरहिणी शकुन्तला पतिके बारेमें सोच रही हो—सोचते सोचते उसकी आँखोंके आगेसे सारा जगत् लुप्त हो गया हो। लोगोंको जैसे ज्वरका विकार होता है, वैसे ही यह एक मानसिक विकार है। नवविवाहिता प्रथम विरहिणियोंका ऐसा ही हाल हुआ करता है। यह पाप या दारुण शापके योग्य काम नहीं है। उस समय वह असीम अनुकंपाकी पात्री थी, क्रोधकी नहीं। इसके सिवा यह भी अगर मान लिया जाय कि शकुन्तलाने आतिथ्य धर्मकी अवहेला की, तो दुष्यन्तने तो वैसा नहीं किया? किन्तु इस अभिशापसे केवल शकुन्तलाने ही कष्ट नहीं पाया, अन्तको दुष्यन्तको भी घोर कष्ट उठाना पड़ा। वास्तवमें अगर देखा जाय तो शकुन्तलाके शापावसानके बाद दुष्यन्तको ही उस शापने दुःख दिया। परन्तु दुष्यन्तका क्या दोष था?

एक और कवि-समालोचकने इस अभिशापकी एक आध्यात्मिक व्याख्या की है। वह व्याख्या यह है कि दुर्वासाने इस कामजनित गुप्त विवाहको अभिशाप दिया था। किन्तु यह उनकी कोरी कविकल्पना है। इस अभिशापमें इस कथनका कोई निदर्शन नहीं है।

दुर्वासाकी अभिशापोक्ति पढ़नेसे इसमें जरा भी सन्देह नहीं रह जाता कि दुर्वासाने इस खयालसे शाप नहीं दिया कि शकुन्तलाने कोई पाप किया है। दुर्वासा इस लिए शाप देते हैं कि शकुन्तलाने उनकी

—दुर्वासा ऐसे महर्षिकी—अवहेला की है। दुर्वासाका क्रोध पापके प्रति नहीं है, उनको अपने अपमानके कारण क्रोध है। यही इस अभिशापका सहज सरल अर्थ है, अन्य अर्थ कष्टकल्पना मात्र है।

मेरी समझमें कालिदासने केवल दुष्यन्तको बचानेके ही लिए इस अभिशापकी कल्पना की है। उन्होंने दुष्यन्तको अवश्य कुछ बचा लिया है, लेकिन दुर्वासाकी हत्या कर डाली है। दुर्वासा चाहे जितने क्रोधी क्यों न हों, आखिर तो ऋषि हैं। अर्जुनके प्रति प्रत्याख्याता उर्वशीका अभिशाप भी, पतिप्राणा शकुन्तलाके प्रति दुर्वासाके इस अभिशापसे अधिक हेय नहीं जान पड़ता।

कालिदास दुर्वासाकी हत्या भले ही कर डालते इससे उतनी हानि नहीं थी; किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनकी यह अभिशापकी कल्पना अत्यन्त अनिपुण हुई है। इसे पढ़कर पाठकोंके मनमें यही भाव उत्पन्न होता है कि मानों कविको उस समय, चाहे संगत हो या असंगत, उचित हो या अनुचित, एक ऋषिकी शाप चाहिए थी।

उसके बाद शकुन्तलाकी सखीके अनुरोधसे इस शापमें कुछ परिवर्तन कराना, अर्थात् "कुछ निशानी दिखानेसे स्मृतिभ्रम दूर हो जायगा" यह कहलाना तो लड़कपनकी पराकाष्ठा जान पड़ता है। परवर्ती घटनाओंके साथ संगति बनाये रखनेके लिए ही, और अन्तमें दुष्यन्तसे शकुन्तलाका मिलन करानेके लिए ही, मानों इसकी कल्पना की गई है। नहीं तो कहीं कुछ भी नहीं था, यह 'अभिज्ञान (निशानी)' की बात आती कहाँसे? मिलनके अन्य उपाय भी थे। दुर्वासा मानों जान गये हैं कि दुष्यन्त शकुन्तलाको एक अपने नामाक्षरोंसे अंकित अँगूठी दे गये हैं, और शकुन्तला उसे पहले नहीं दिखा सकेगी (कारण, यदि दिखा सके तो फिर तत्काल ही शापका अन्त और नाटककी समाप्ति

हो जाय), बादको दिखावेगी। नहीं तो मिलन नहीं होगा, और मिलन हुए विना अलंकारशास्त्रसंगत नाटक नहीं बनेगा। मानों दुर्वासा ही नाटककी रचना करते हैं, और नाटकको पूर्ण करनेके लिए एक रास्ता दिखा जाते हैं।

उसके उपरान्त, स्नानके समय अँगूठीका शकुन्तलाकी उँगलीसे गिर पड़ना, उसका रोहित मछलीके पेटमें जाना और ठीक उसी मछलीका धीवरके जालमें फँसना----ये सब बातें एक तीसरी श्रेणीके नाटककारके योग्य कौशल जान पड़ती हैं। सभी बातें मानों आरब्य उपन्यास (अलिफलैलाका किस्सा) हैं, नाटकका अस्थिमज्जागत अंश नहीं हैं।

अन्तको, दुष्यन्तका दैत्यविनाशके लिए स्वर्गमें जाना और इन्द्रके हाथों उन दैत्योंके परास्त न हो सकनेका बतलाया गया कारण भी पूर्ववत् बाहरकी बातें हैं। कोई भी बात नाटकके मूल-उपाख्यानका अंश अथवा उसकी परिणतिका फल नहीं है। जान पड़ता है, नाटककारने बिल्कुल ही विपत्तिमें पड़कर इन्हें नाटकमें ला घुसेड़ा है।

वास्तवमें, अभिज्ञान-शकुन्तलका जितना उपाख्यान-भाग कालिदासके द्वारा कल्पित है, उससे आख्यान भाग (प्लाट) के गढ़नेमें कालिदासकी अक्षमता ही प्रकट होती है। कमसे कम मेरी धारणा तो यही है। व्यासदेवका मूल-उपाख्यान आदिसे अन्त तक स्वाभाविक है। उसमें कहीं भी कष्ट-कल्पना नहीं है। उसका संपूर्ण अंश मानों एक प्राकृतिक जीवन है—उत्पत्ति, वृद्धि और परिणति है। उसमें एक दैववाणीके सिवा अवान्तर, उपाख्यान भागके बहिर्भूत, अकस्मात् होनेवाली किसी भी घटनाका उल्लेख नहीं है।

भवभूति नाटककार नहीं हैं। वे उपाख्यानभाग-संगठनमें निपुणताका दावा भी नहीं करते। बल्कि अगर यह कहा जाय कि उनके

उत्तररामचरितमें उपाख्यान भाग कुछ ही है नहीं, तो भी ठीक होगा। उनका नाटक वर्णनाके सिवा और कुछ भी नहीं है। इसी कारण उन्होंने उधर कल्पनाकी लगाम एकदम ढीली कर दी है, उसे स्वच्छन्द गतिसे विचरने दिया है।

घटना स्वाभाविक हो या अस्वाभाविक, संगत हो या असंगत, इससे उनका कुछ आता-जाता नहीं। " **निरंकुशा कवयः** " इस साहित्यिक सूत्रका सहारा लेकर वे यथेच्छ घूमे हैं। उन्होंने एक तरहसे स्वीकार ही कर लिया है कि वे नाटककार नहीं, कोरे कवि हैं।

सीताजी निर्वासित होने पर गंगाके प्रवाहमें फाँद पड़ीं। गंगादेवीने स्नेहपूर्वक उन्हें अपने हृदयमें धारण किया। वे अपने पवित्र शीतल जलसे सीताके दुःख-कष्टोंको धोकर उन्हें पातालमें (उनकी माता पृथ्वीके पास) छोड़ आईं। पति-परित्यक्ता नारीका स्थान माताकी गोदके सिवा और कहाँ हो सकता है ? पतिपरित्यक्ता दमयन्तीने भी इसी तरह अपने पिताके ही घरमें जाकर आश्रय लिया था। गंगा देवीने नवजात यमज शिशु लव-कुशको विद्या-शिक्षाके लिए वाल्मीकि मुनिके हाथमें सौंप दिया। वहाँ उन कोमलहृदय महर्षिके सिवा विशेष यत्न और स्नेहके साथ उन बच्चोंका लालन-पालन और कौन कर सकता था ?

मालूम नहीं, कविने ऐसी अमानुषिक कल्पनाएँ करनेका क्या प्रयोजन देखा था। मुझे जान पड़ता है कि वाल्मीकिवर्णित सीता-निर्वासन इससे कहीं अधिक मनोहर और हृदयस्पर्शी है। भवभूतिके द्वारा आविष्कृत इस सीताके पाताल-प्रवेशकी कल्पनामें कुछ भी कवित्व नहीं है। मुझे तो यह—अभिज्ञान-शकुन्तलमें वर्णित ज्योतिके द्वारा,

त्यागी गई शकुन्तलाके आकाशगमनका अन्ध अनुकरणमात्र जान पड़ता है।

शम्बूकके मामलेका एक मात्र उद्देश्य—रामको फिर जनस्थानमें ले आना है, जिसमें राम अच्छी तरह सीताके विरहका अनुभव कर सकें। ऐसी दशामें उस बेचारेका व्यर्थ वध करानेकी क्या जरूरत थी? रामने जैसे अहल्याको शापमुक्त किया था, वैसे ही शूद्रतपस्वीने शम्बूकको भी शापमुक्त कर दिया। इस घटनामें सहृदयता है, किन्तु कवित्वका कोई भी विशेष लक्षण नहीं देख पड़ता।

तमसा और मुरला इन दो नदियोंको मानवी-मूर्ति देनेमें बेशक कवित्व है। जो कवि है, उसकी दृष्टिमें सारी ही प्रकृति सजीव है, पहाड़, नदी, जंगल, मैदान आदि सभी अनुभव करते हैं, सभीके एक भाषा है। नदीकी कलध्वनिमें और वृक्ष-पत्रोंकी मर्मर-ध्वनिमें भी एक भाषा है। जो कवि नहीं है उसके मनमें भी यह खयाल आता है—कविके लिए तो कुछ कहना ही नहीं है। भवभूति महाकवि थे, इस लिए उनके इस महाकाव्यमें ऐसी कल्पना संपूर्ण संगत और अति सुंदर हुई है।

किन्तु सबसे बढ़कर सुंदर कल्पना 'छाया-सीता' है। मुझे तो नहीं स्मरण आता कि मैंने और किसी काव्यमें कभी ऐसे मधुर रूपककी कल्पना पढ़ी हो। कल्पना कैसी करुण है! चित्र कैसा हृदयग्राही है! राम फिर उसी पञ्चवटी-वनमें आये हैं—जहाँ उन्होंने शुरू जवानीके प्रथम प्रणयके मजे लूटे थे। वे उन्हीं वनपथों, उन्हीं शिलातलों, उन्हीं कुञ्जवनों और उसी गोदावरीको देख रहे हैं। वनपथ घाससे ढक जानेके कारण अस्पष्ट हो गये हैं; शिलातल वेतसलता-

ओंसे आधे आधे ढक गये हैं; कुञ्जवन और भी घने हो गये हैं; गोदावरी पहलेकी जगहसे हट गई है। उन्हींका पाला हुआ हाथीका बच्चा इस समय बड़ा होकर उस निर्जन वनमें विचरण कर रहा है। वही पाला हुआ मोरका बच्चा अब बड़ा हो गया है—जिसे सीता नचाती थीं। सब वही है, केवल सीता ही नहीं हैं। किन्तु सीताकी स्मृति है। उसे राम पकड़ना चाहते हैं, लेकिन पकड़ नहीं पाते—उसी घड़ी वह मूर्ति शून्यमें विलीन हो जाती है। सीताका कण्ठस्वर और स्पर्श अनुभव करते करते ही मानों खो जाता है। यह स्वप्न, यह मृगतृष्णा, यह असह्य यन्त्रणा, यह मर्मभेदी विरहव्यथा, इस जगत्में शायद ही और कोई कवि कल्पनाके द्वारा दिखा सका हो। नाटकके हिसाबसे भी ऐसी कल्पनाका थोड़ा सा प्रयोजन है। सीताको यह बात जतानेकी आवश्यकता थी कि रामसीताके प्रति इस समय भी पहलेहीकी तरह अनुरक्त हैं, और सीताके विरहमें कातर हैं। यह जान लेनेसे सीता उस दारुणविरहमें भी जीवन धारण करके रह सकती हैं; अथवा अंतमें बिना विलाप और आपत्तिके चुपचाप राम और सीताका मिलन संपन्न हो सकता है। पाठकोंको स्मरण होगा कि दुष्यन्तका विलाप भी इसी तरह मिश्रकेशीके मुखसे शकुन्तलाको सुनाया गया है।

किन्तु मुझे जान पड़ता है कि इसका प्रधान उद्देश्य यह है कि इस विषयमें राम ही दोषी हैं, सीता निरपराध हैं। पहले रामने सीताको रुलाया है, अब सीताकी बारी है। अब राम रोएँगे, और बदलेमें सीताके उस घाव पर मरहम लगावेंगे, उस ज्वाला पर अमृत छिड़केंगे। सीता पर अनुरक्त होने पर भी रामको अबतक सीताकी अपेक्षा यश ही प्रिय रहा है।

इस समय भी राम सीताको पानेके योग्य नहीं हुए। अभी तक उन्होंने तन्मय हो कर, सर्वस्वको तुच्छ करके, सीताका ध्यान करना नहीं सीखा। इसी कारण वे सीताको नहीं देख पाते। किन्तु सीता उसी तरह राममयजीविता हैं, इस कारण वे रामको देख सकती हैं।

एक प्रवीण विज्ञ समालोचकने इस 'छाया-सीता' विष्कम्भककी और एक व्याख्या की है। वे कहते हैं कि सीता उस पञ्चवटीवनमें कुछ सचमुच ही नहीं आई थीं। उस स्थान पर सीताकी उपस्थिति केवल रामकी कल्पना मात्र है। किन्तु यह व्याख्या ठीक नहीं है।

पहले तो, यह धारणा मूलके साथ मेल नहीं खाती। सीतामूर्ति अगर रामकी भ्रान्ति मात्र होती, तो रामके आनेके पहले सीता पञ्च-वटी वनमें आकर नहीं पहुँच सकती थीं। दूसरे, सीता अगर रामकी कोरी कल्पना ही होतीं, तो वे रामको ही देख पड़तीं, और किसीको नहीं देख पड़तीं। किन्तु भवभूतिने कल्पना की है कि सीताको केवल तमसा देख पाती है, राम नहीं देख पाते। जिसकी कल्पना है वही तो उसे प्रत्यक्षवत् देखता है। और यह बात सीताकी उक्तिसे ही प्रमाणित होती है कि छाया-सीता रामकी कल्पना मात्र नहीं हैं। राम सहधर्मिणीको लेकर यज्ञ करते हैं, यह सुनकर सीताका हृदय धड़कने लगता है—यह भी क्या रामकी कल्पना है? और लव-कुश नामक दोनों पुत्रोंके संबंधमें सीताका आक्षेप करना तो रामकी कल्पना हो ही नहीं सकता। क्यों कि रामको उस समय तक दोनों पुत्रोंके जन्मकी सूचना ही नहीं मिली थी। उसके बाद सीता जिस भावसे रामको अच्छी तरह देख लेना चाहती हैं, और अन्तको प्रणाम करके विदा होती हैं, वह भी रामकी कल्पना नहीं हो सकता।

छाया-सीताको अगर रामकी कल्पना मान लें, तो इस विष्कम्भ-

कका आधेसे अधिक सौन्दर्य चला जाता है। सीताका उद्वेग, सीताका आनन्द, सीताका विभ्रम, सीताकी पतिप्राणता, सीताका आत्मबलि-दान—जो कुछ इस विष्कम्भकमें है, वह अगर केवल रामकी कल्पना मान लिया जाय तब तो कहना होगा कि सीताकी हत्या ही कर डाली गई। मुझे जान पड़ता है कि भवभूतिने पहले तो कवित्वके हिसाबसे ही काल्पनिक सीताकी कल्पना की थी; पीछे जब वे उस कल्पनाको मूर्तिमती बनाने लगे, विषयको सजाने लगे, तब सत्य सीताको ही वहाँ ले आये। अच्छा ही किया। इस वास्तव और अवास्तवने मिलकर जिस इन्द्रजालकी सृष्टि की है, वह जगत्‌भरके साहित्यमें अतुलनीय है।

कालिदासके समयके आचार-व्यवहारोंकी तुलना यदि भवभूतिका-लीन आचार-व्यवहारोंके साथ की जाय तो उन दोनोंके बीच कुछ भेद देख पड़ता है। एक तो भवभूतिके समयमें वर्णभेदकी-कठोरता कम हो आई थी। दुष्यन्त तापस-तापसियोंको जिस तरह डरते हैं, उससे तो यही जान पड़ता है कि उस समय ब्राह्मणोंका प्रभाव अत्यन्त अधिक था। दुष्यन्त स्वीकार करते हैं—

“ यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तद्धनम्।
तपः षड्भागमक्षय्यं ददात्यारण्यको हि नः॥ ”

[जो धन ब्राह्मणेतर वर्णोंसे ‘कर’ में मिलता है, वह तो क्षय हो जानेवाला है। परन्तु वनवासी तपस्वी ब्राह्मण हमें जो तपका छठा भाग ‘कर’ में देते हैं वह अक्षय धन है।]

दोनों ऋषिकुमार जिस समय राजाको ऋषियोंका अनुरोध जताने आते है तब राजा पूछते हैं—“ **किमाज्ञापयन्ति** ” (क्या आज्ञा करते हैं ?)—

जिस समय दुष्यन्त शकुन्तला पर अनुरक्त हुए हैं, उस समय वे "**तपसो वीर्यं**" (तपका बल) स्मरण करके चिन्ताकुल होते हैं। राजसभामें राजा गौतमी और शार्ङ्गरवकी तीव्र भर्त्सना सुनकर जिस तरह गर्दन झुका लेते हैं, उससे स्पष्ट जान पड़ता है कि वे ब्राह्मणोंको पूर्ण रूपसे डरते और दबते थे।

उत्तरचरितमें अगर यह कहा जाय कि ब्राह्मणचरित्र है ही नहीं, तो भी चल सकता है। उसमें जो वाल्मीकि आदि एकाध हैं भी, वे सब निरीह ब्राह्मण हैं। भवभूतिके राम अष्टावक्रमुनिके साथ उसी तरह बातचीत करते हैं, जैसे कोई मित्र मित्रके साथ करता है। अष्टावक्रने प्रवेश करके कहा—"**स्वस्ति राम**" (राम, तुम्हारा कल्याण हो।) रामने उत्तर दिया—"**अभिवादये इत आस्यताम्**" (प्रणाम करता हूँ, इधर आइए।) सीताने कहा—"**नमस्ते अपि कुशलं सकलगुरुजनस्य आर्यायाश्च शान्तायाः।**" (आपको प्रणाम है। मेरे सब गुरुजन और आर्या शान्ता कुशलसे तो हैं?) यह अत्यन्त साधारण शीलता है। अष्टावक्रने विनयपूर्वक कहा—

"देवि भगवान् वशिष्ठस्त्वामाह—

विश्वंभरा भगवती भवतीमसूत
राजा प्रजापतिसमो जनकः पिता ते।
तेषां वधूस्त्वमसि नन्दिनि पार्थिवानां
येषां गृहेषु सविता च गुरुर्वयञ्च॥

तत् किमन्यदाशास्महे केवलं वीरप्रसवा भूयाः।"

[देवी, भगवान् वशिष्ठने तुमसे कहा है कि विश्वका भरणपोषण करनेवाली भगवती पृथ्वीने तुमको उत्पन्न किया है, और प्रजापतिके समान राजा जनक तुम्हारे पिता हैं। और हे आनन्ददायिनी, तुम उस

राजवंशकी बहू हो जिसके गुरु सूर्यदेव और मैं हूँ। अतएव मैं और क्या आशीर्वाद दूँ, तुम्हारे वीरपुत्र उत्पन्न हो।]

रामने विनयपूर्वक उत्तर दिया—

"लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति॥"

[लौकिक साधुओंकी वाणी अर्थकी अनुगामिनी होती है। लेकिन आदि ऋषियोंकी वाणीका अनुगमन स्वयं अर्थको करना पड़ता है।]

इसके बाद दोनों पक्ष अत्यन्त साधारण ढंगसे मित्रभावसे बातचीत करते हैं। जरा भी भयका भाव नहीं है। 'जो आज्ञा' के भावका नामनिशान भी नहीं है। एक सौम्य सविनय ससम्मान भद्रव्यवहारमात्र है।

भवभूतिके समयमें, जान पड़ता है, नारीका सम्मान कालिदासके समयकी अपेक्षा बहुत बढ़ गया था। अभिज्ञान-शकुन्तलमें नारी केवल उपभोगकी सामग्री है। परन्तु उत्तरचरितमें नारी पूजनीय है। हम इन दोनों नाटकोंमें पग पग पर नारीजातिकी इस विभिन्न पदवीको देख सकते हैं। कहा जा सकता है कि यह जो आचार-व्यवहारका वैषम्य ऊपर बतलाया गया है वह सामयिक आचारका पार्थक्य न होकर दोनों कवियोंकी रुचिका ही परिचायक हो सकता है। किन्तु मुझे जान पड़ता है कि कवि चाहे जितना बड़ा हो, वह समयसे बहुत ऊपर नहीं जा सकता। कविकी रचनामें सामयिक आचार-व्यवहारोंका कुछ न कुछ निदर्शन अवश्य ही रहेगा, और इन नाटकोंमें वह अधिक मात्राम मौजूद है।

सातवाँ परिच्छेद ।

समाप्ति ।

मैंने पहलेके परिच्छेदोंमें अभिज्ञान-शकुन्तल और उत्तररामचरित-की तुलनात्मक समालोचना की है। अपनी शिक्षा, बुद्धि, विश्वास और समझके अनुसार ही मैंने दोनों नाटकोंके गुण-दोषोंका विचार किया है । किसी भी नाटकका मैंने आध्यात्मिक अर्थ नहीं निकाला । आध्यात्मिक अर्थ चाहे जिस ग्रन्थसे किसी न किसी रूपमें निकाला जा सकता है । इन दोनों नाटकोंकी भी आध्यात्मिक व्याख्या होती है । शकुन्तला नाटककी आध्यात्मिक व्याख्या तो कई आदमियोंने की है। किसीने कहा है—दुष्यन्त-शकुन्तला और कोई नहीं, पुरुष-प्रकृति हैं । किसीने कहा है—इस नाटकमें दिखाया गया है कि प्रेम काम्य-मिलनका संपादन नहीं कर सकता, उसके लिए तपस्याकी जरूरत होती है, उसका साधन तपस्या है । जो चाहे वह इन दोनों नाट-कोंकी सौ सौ सफेकी आध्यात्मिक व्याख्यायें लिख सकता है। व्याख्या किस चीजकी नहीं हो सकती ? यहाँ तक कि एक विदेशी वैज्ञा-निक समालोचक-पुंगवने तो रामायणको केवल सूर्यकी गतिका वर्णन समझ लिया है । मैं इस तरहकी कष्टकल्पित आध्यात्मिक व्याख्याका पक्षपाती नहीं हूँ, और आंशिक सादृश्यको आध्यात्मिक अथवा अधि-भौतिक कोई भी व्याख्या नहीं समझता ।

मैंने दोनों नाटकोंके दोषोंका भी उल्लेख किया है । यह मैं जानता हूँ श्रेणी विशेषके पाठकोंको उससे विशेष प्रसन्नता नहीं होगी । हो

सकता है कि मैंने जहाँ जिसे दोष समझा है, उस स्थलको मैं अच्छी तरह न समझ सका होऊँ। किन्तु यदि मेरा कोई कथन अमूलक हुआ हो, तो वह मेरा भ्रम ही हो सकता है, धृष्टता नहीं।

मेरी धारणा यह है कि जो समालोचना विषयको भय करके अग्रसर होती है, और नामसे मोहित होकर निश्चय कर वैठती है कि केवल प्रशंसावाद करूँगी, और जहाँ अर्थशून्य रचना जान पड़ेगी वहाँ उसका कोई आध्यात्मिक अर्थ निकालूँगी, वह समालोचना नहीं है, स्तुतिवाद है। महाकविके प्रति असम्मान दिखाना अवश्य धृष्टता है; किन्तु अपनी युक्तिको और विवेचनाशक्तिको समालोच्य ग्रंथकी गुलामीमें लगा देना विवेकका व्यभिचार है।

इन दोनों नाटकोंमें दोष भी हैं, परन्तु इससे इनका गौरव कम नहीं हुआ। शेक्सपियरका भी कोई नाटक निर्दोष नहीं है। मनुष्यकी रचना एकदम दूधकी धोई—बिल्कुल निर्दोष—हो ही नहीं सकती। किन्तु जिस काव्य या नाटकमें गुणका भाग अधिक है, दो-एक दोष रहनेपर भी उसका उत्कर्ष नष्ट नहीं होता। कालिदासहीका वचन है—"**एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांकः।**" (गुणोंके समूहमें एक दोष वैसे ही छिप जाता है, जैसे चन्द्रमाकी किरणोंमें उसका कलंकचिह्न।)

कालिदासकी विश्वजनीन प्रतिभाका प्रधान लक्षण यह है कि जो नाटक उन्होंने दो हजार वर्ष पहले लिखा है, वह आज भी पुरातन और नवीन अलंकारशास्त्रके अनुकूल रहकर, आचार नीति और विश्वासके परिवर्तनोंको तुच्छ करके, सारे समालोचकोंकी तीक्ष्ण दृष्टिके सामने, पर्वतके

सदृश अटलभावसे, वैसे ही सिर उठाये, गर्वके साथ खड़ा है। यह रचना 'उषा' के उदयकी तरह उस समय जैसी सुंदर थी, इस समय भी वैसी ही सुंदर है। भवभूतिकी महारचनाका माहात्म्य भी समयकी अग्रगतिके साथ बढ़ता ही जा रहा है, घटता नहीं है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसीसे शायद मालूम पड़ जायगा कि इन दोनों नाटकोंकी तुलना ठीक तौरसे हो ही नहीं सकती। कारण, एक नाटक है, और दूसरा काव्य है। नाटककी दृष्टिसे उत्तररामचरित शायद अभिज्ञान-शकुन्तल नाटककी चरणरजके भी समान नहीं है। किन्तु काव्यकी दृष्टिसे उत्तररामचरितका आसन अभिज्ञान-शकुन्तलके बहुत ऊपर है। विश्वासकी महिमामें, प्रेमकी पवित्रतामें, भावकी तरंगक्रीड़ामें, भाषाके गांभीर्यमें, और हृदयके माहात्म्यमें उत्तररामचरित श्रेष्ठ है और घटनाओंकी विचित्रतामें, कल्पनाके कोमलत्वमें, मानवचरित्रके सूक्ष्म विश्लेषणमें, भाषाकी सरलता और लालित्यमें अभिज्ञान-शकुन्तल श्रेष्ठ है। संस्कृतसाहित्यमें ये दोनों नाटक परस्पर प्रतिद्वन्द्वी नहीं हैं। ये दोनों एक दूसरेके साथी हैं। अभिज्ञान-शकुन्तल शरद ऋतुकी पूर्ण चाँदनी है, उत्तररामचरित नक्षत्रखचित नील आकाश है। एक बागका गुलाब है, दूसरा वनमालती है। एक व्यंजन है, दूसरा हविष्यान्न है। एक वसन्त है, दूसरा वर्षा है। एक नृत्य है, दूसरा अश्रु है। एक उपभोग है, दूसरा पूजा है।

मालती-माधव नाटककी भूमिकामें महाकवि भवभूतिने जो गर्वोक्ति की है, वह उत्तररामचरितमें सार्थक हो गई है—

> "ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
> जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः।

उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोपि समानधर्म्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥"

[जो लोग मेरे इस नाटकके प्रति अवज्ञा दिखलाते हैं, वे ही उसका कारण जानें। मेरा यह यत्न उनके लिए नहीं है। मेरा समानधर्मा या मेरे काव्यके गुणोंको जाननेवाला कोई न कोई आदमी किसी न किसी समय अवश्य उत्पन्न होगा अथवा कहीं न कहीं मौजूद ही होगा। क्यों कि यह काल अनन्त है और पृथ्वी भी बहुत बड़ी है।]

अभिज्ञानशकुन्तल पढ़कर महाकवि गेटेने जो उल्लासोक्ति की है वह भी सार्थक है।

Wouldst thou see spring's blossoms and the fruits of its decline
Wouldst thou see by what the souls enraptured feasted fed
Wouldst thou have this earth and heaven in one sole name combine
I name thee oh Sakuntala ! and all at once is said."

हमारा जन्म सार्थक है। क्यों कि जिस देशमें कालिदास और भवभूतिने जन्म लिया था उसी देशमें हम पैदा हुए हैं और जिस भाषामें इन दो महती रचनाओंकी सृष्टि हुई है वह हमारी ही भाषा है। अनेक शताब्दियोंके पहले इन दोनों महाकवियोंने जिस नारी-चरित्रकी वर्णना या कल्पना की थी, वे शकुन्तला और सीता, हमारी गृहलक्ष्मी-स्वरूपिणी होकर, हमारे गार्हस्थ्यजीवनकी अधिष्ठात्री देवी होकर, आज भी हिन्दुओंके घरोंमें विराज रही हैं।

हम समझते हैं, हम जानते हैं, हम अनुभव करते हैं कि ये दोनों चरित्र जगत्में केवल हमारी ही संपत्ति हैं, और किसीकी भी नहीं। एक साथ इतनी लज्जासे झुकी हुई, इतनी सुन्दरी, इतनी पवित्र, इतनी भोली, इतनी कोमल हृदयवाली, इतनी अभिमानिनी, इतनी निस्वार्थप्रेमिका, और इतनी कष्ट सहनेवाली—ये दोनों रमणियाँ हमारी ही हैं, और किसीकी भी नहीं। धन्य कालिदास ! धन्य भवभूति !